

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

आपने प्रभुको पहचानें

(भगवान्‌का समग्ररूप)



परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीराममुखदासजी महाराजके
वचनोंका सार-संग्रह

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अपने प्रभुको पहचानें

[भगवान्का समग्ररूप]

[परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके
वचनों से संगृहीत]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

संकलन-सम्पादन—

राजेन्द्र कुमार धवन

गीता प्रकाशन, गोरखपुर

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
पहला अध्याय	१
दूसरा अध्याय	२
तीसरा अध्याय	४
चौथा अध्याय	५
पाँचवाँ अध्याय	६
छठा अध्याय	१२
सातवाँ अध्याय	१४
आठवाँ अध्याय	१६
नवाँ अध्याय	१६
दसवाँ अध्याय	१८
ग्यारहवाँ अध्याय	२६
बारहवाँ अध्याय	२६
तेरहवाँ अध्याय	२७
चौदहवाँ अध्याय (समग्र भगवान् श्रीकृष्ण)	२८
पन्द्रहवाँ अध्याय (हृदयोद्धार)	३५

===:0:===



नम्र निवेदन

इस युगके अप्रतिम महापुरुष परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज किसी मत, वाद, सम्प्रदाय आदिसे बँधे हुए नहीं थे, प्रत्युत इन सबसे ऊँचे उठे हुए थे। उनसे कोई पूछता कि आप किसके उपासक हैं तो वे यही उत्तर देते थे कि मैं 'है' का उपासक हूँ! यह 'है' ही परमात्माका अलौकिक समग्ररूप है, जो किसी सीमामें बँधा हुआ नहीं है। यह समग्र ही गीतागायक श्रीकृष्ण हैं। इस समग्ररूपको ही गीतामें 'वासुदेवः सर्वम्' (सब कुछ वासुदेव ही है) कहा गया है।

परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजने गीतामें वर्णित 'समग्र' के जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है, उसमें समस्त मत, वाद, सम्प्रदाय आदि समाप्त हो जाते हैं। इस कारण उनकी वाणीमें किसी एक धर्म, सम्प्रदायकी बात न आकर मानवमात्रके कल्याणकी बात आती है। प्रत्येक देश, धर्म, सम्प्रदाय, जाति आदिका मनुष्य उनकी वाणीसे लाभ उठाकर सुगमतापूर्वक अपना उद्धार कर सकता है।

वर्तमानमें संसारके विविध देशों, धर्मों, सम्प्रदायों आदिके बीच संघर्षकी भावना जोर पकड़ती जा रही है। प्रत्येक देश आतंकवादसे ग्रस्त, अशान्त हो रहा है। ऐसे समयमें परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके 'समग्र'-भावके प्रचारकी आवश्यकता समझते हुए इस पुस्तकका प्रकाशन किया जा रहा है। जब मनुष्य सब रूपोंमें अपने प्रभुको पहचान लेगा तो फिर किससे वैर-विरोध करेगा—'निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करहि बिरोध'?

प्रस्तुत पुस्तकमें परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराज द्वारा भगवान्‌के समग्ररूपके विषयमें कही गयी अथवा लिखवायी हुई बातोंका संक्षिप्त संकलन किया गया है। श्रीस्वामीजी महाराजने समय-समयपर समग्ररूपके विषयमें जो बातें व्यक्तिगत रूपसे कही थीं, उन्हें भी पन्द्रहवें अध्यायके अन्तर्गत 'हृदयोद्धार' नामसे इस पुस्तक अन्तमें दिया गया है।

परमात्माके समग्ररूपपर अभीतक कोई पुस्तक हमारे देखने-सुननेमें नहीं आयी। प्रस्तुत पुस्तक अपने विषयकी एकमात्र अनूठी पुस्तक है। सुधी पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि इस पुस्तकका गम्भीरतापूर्वक अध्ययन-मनन करके लाभ उठायें।

गुरुपूर्णिमा
वि० सं० २०६९

निवेदक—
राजेन्द्र कुमार धवन



अपने प्रभुको पहचानें

पहला अध्याय

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः॥
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

(हनुमन्नाटक १। ३)

‘शैव शिवरूपसे, वेदान्ती ब्रह्मरूपसे, बौद्ध बुद्धरूपसे, प्रमाणकुशल नैयायिक कर्तारूपसे, जैन अर्हन्रूपसे और मीमांसक कर्मरूपसे जिनकी उपासना करते हैं, वे त्रैलोक्याधिपति श्रीहरि हमें वाञ्छित फल प्रदान करें।’

वास्तवमें परमात्मा सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब कुछ हैं। सगुण-निर्गुण तो उनके विशेषण हैं, नाम हैं। साधक परमात्माको गुणोंके सहित मानता है तो उसके लिये वे सगुण हैं और साधक उनको गुणोंसे रहित मानता है तो उसके लिये वे निर्गुण हैं। वास्तवमें परमात्मा सगुण तथा निर्गुण—दोनों हैं और दोनोंसे परे भी हैं। परन्तु इस वास्तविकताका पता तभी लगता है, जब बोध होता है।

भगवान्के सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, औदार्य आदि जो दिव्य गुण हैं, उन गुणोंके सहित सर्वत्र व्यापक परमात्माको ‘सगुण’ कहते हैं। इस सगुणके दो भेद होते हैं—

(१) **सगुण-निराकार**—जैसे, आकाशका गुण ‘शब्द’ है, पर आकाशका कोई आकार (आकृति) नहीं है, इसलिये आकाश सगुण-निराकार हुआ। ऐसे ही प्रकृति और प्रकृतिके कार्य संसारमें परिपूर्णरूपसे व्यापक परमात्माका नाम सगुण-निराकार है।

सगुण या निर्गुण, सभी उपासनाएँ सगुण-निराकारसे ही आरम्भ होती हैं। परमात्मा हैं—यह मान्यता भी सगुण-निराकारको लेकर ही है; क्योंकि प्रकृतिका कार्य होनेसे बुद्धि प्रकृतिसे अतीत निर्गुण-तत्त्वको पकड़ नहीं सकती। इसलिये निर्गुणके उपासकका लक्ष्य तो निर्गुण-निराकारका होता है, पर बुद्धिसे वह सगुण-निराकारका ही चिन्तन करता है।

(२) **सगुण-साकार**—वे ही सगुण-निराकार परमात्मा जब अपनी दिव्य प्रकृतिको अधिष्ठित करके अपनी योगमायासे लोगोंके सामने प्रकट हो जाते हैं, उनकी इन्द्रियोंके विषय हो जाते हैं, तब उन परमात्माको सगुण-साकार कहते हैं। सगुण तो वे थे ही, आकृतियुक्त प्रकट हो जानेसे वे साकार कहलाते हैं।

जब साधक परमात्माको दिव्य अलौकिक गुणोंसे भी रहित मानता है अर्थात् साधककी दृष्टि केवल निर्गुण परमात्माकी तरफ रहती है, तब परमात्माका वह स्वरूप ‘निर्गुण-निराकार’ कहा जाता है।

गुणोंके भी दो भेद होते हैं—(१) परमात्माके स्वरूपभूत सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य आदि दिव्य,

अलौकिक, अप्राकृत गुण और (२) प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम गुण। परमात्मा चाहे सगुण-निराकार हों, चाहे सगुण-साकार हों, वे प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे सर्वथा रहित हैं, अतीत हैं। वे यद्यपि प्रकृतिके गुणोंको स्वीकार करके सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी लीला करते हैं, फिर भी वे प्रकृतिके गुणोंसे सर्वथा रहित ही रहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

(गीता ७। १३)

‘इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण जगत् (प्राणिमात्र) इन गुणोंसे अतीत और अविनाशी मुझे नहीं जानता।’

जो परमात्मा गुणोंसे कभी नहीं बँधते, जिनका गुणोंपर पूरा आधिपत्य होता है, वे ही परमात्मा निर्गुण होते हैं। अगर परमात्मा गुणोंसे बँधे हुए और गुणोंके अधीन होंगे, तो वे कभी निर्गुण नहीं हो सकते। निर्गुण तो वे ही हो सकते हैं, जो गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं और जो गुणोंसे सर्वथा अतीत हैं, ऐसे परमात्मामें ही सम्पूर्ण गुण रह सकते हैं। इसलिये परमात्माको सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि सब कुछ कह सकते हैं। ऐसे परमात्माका ही गीतामें ‘समग्ररूप’ से वर्णन किया गया है।

====0:====

दूसरा अध्याय

गीतामें भगवान् अपने समग्ररूपको जाननेकी बात कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

(गीता ७। १)

‘हे पृथानन्दन! मुझमें आसक्त मनवाला, मेरे आश्रित होकर योगका अभ्यास करता हुआ तू मेरे जिस समग्ररूपको निःसन्देह जिस प्रकारसे जानेगा, उसको उसी प्रकारसे सुन।’

तात्पर्य है कि जिसका मन भगवान्में आसक्त हो गया है, जो सर्वथा भगवान्के आश्रित हो गया है और जिसने भगवान्के सम्बन्धको स्वीकार कर लिया है—ऐसा पुरुष भगवान्के समग्ररूपको जान लेता है अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार, अवतार-अवतारी और शिव, गणेश, सूर्य, विष्णु आदि जितने रूप हैं, उन सबको वह जान लेता है।

समग्ररूपका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(गीता ७। २९-३०)

‘वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं। जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके

सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।’

तात्पर्य है कि ‘ब्रह्म’ अर्थात् निर्गुण-निराकार, ‘अध्यात्म’ अर्थात् अनन्त योनियोंके अनन्त जीव, ‘कर्म’ अर्थात् सृष्टि, प्रलय आदिकी सम्पूर्ण क्रियाएँ, ‘अधिभूत’ अर्थात् सम्पूर्ण पांचभौतिक जगत्, ‘अधिदैव’ अर्थात् ब्रह्माजी आदि सभी देवता तथा ‘अधियज्ञ’ अर्थात् विष्णु तथा उनके सभी रूप—इन सबके सहित भगवान्का जो स्वरूप है, वह भगवान्का समग्ररूप है। समग्ररूप कहनेसे कोई रूप बाकी नहीं रहा।

साधकका जन्म तो हो चुका है और व्याधि अवश्यम्भावी नहीं है; परन्तु वृद्धावस्था और मृत्यु—ये दोनों अवश्यम्भावी हैं और इनसे मनुष्यको अधिक दुःख होता है। इसलिये यहाँ ‘जरामरणमोक्षाय’ कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्का आश्रय लेनेवाले भक्त जरा और मरण—दोनोंसे मुक्त हो जाते हैं अर्थात् उनको शरीरके रहते हुए वृद्धावस्थाका भी दुःख नहीं होता और गतिके विषयमें भी दुःख नहीं होता कि मरनेके बाद हमारी क्या गति होगी? वे भगवान्का आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, इसलिये वे परा-अपराके सहित भगवान्के समग्ररूपको जान लेते हैं।

यद्यपि कर्मयोगी और ज्ञानयोगी भी जन्म-मरणसे मुक्त हो जाते हैं, पर भक्त जरा-मरणसे मुक्त होनेके साथ-साथ भगवान्के समग्ररूपको भी जान लेते हैं। कारण कि कर्मयोगी और ज्ञानयोगीकी तो आरम्भसे ही अपने साधनकी निष्ठा होती है—‘लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा०’ (गीता ३। ३), पर भक्त आरम्भसे ही भगवन्निष्ठ अर्थात् भगवत्परायण होता है। भगवन्निष्ठ होनेसे भगवान् कृपा करके उसको अपने समग्ररूपका ज्ञान करा देते हैं।

पहले भगवान्ने कहा कि कोई एक ही (विरला) मनुष्य मेरे समग्ररूपको जानता है—‘कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः’ (गीता ७। ३)। यहाँ बताते हैं कि जो मेरे शरण हो जाता है, वह मेरे समग्ररूपको जान लेता है—‘मामाश्रित्य यतन्ति ये’ (गीता ७। २९)। अतः भगवान्के समग्ररूपको जाननेकी मुख्य साधना है—शरणागति। कारण कि समग्रका ज्ञान विचारसे नहीं होता, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शरणागत होनेपर भगवत्कृपासे ही होता है। इसलिये भगवान्ने सातवें अध्यायके आरम्भमें ‘मदाश्रयः’ कहकर अन्तमें ‘मामाश्रित्य’ पदसे उसका उपसंहार किया है।

यहाँ एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि निर्गुण-निराकार ‘ब्रह्म’ का नाम भगवान्के समग्ररूपके अन्तर्गत आया है। लोगोंमें प्रायः इस बातकी प्रसिद्धि है कि ‘निर्गुण-निराकार ब्रह्मके अन्तर्गत ही सगुण ईश्वर है। ब्रह्म मायारहित है और ईश्वर मायासहित है। अतः ब्रह्मके एक अंशमें ईश्वर है।’ वास्तवमें ऐसा मानना शास्त्रसम्मत एवं युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि जब ब्रह्ममें माया है ही नहीं तो फिर मायासहित ईश्वर ब्रह्मके अन्तर्गत कैसे हुआ? ब्रह्ममें माया कहाँसे आयी? परन्तु गीतामें भगवान् कह रहे हैं कि मेरे समग्ररूपके एक अंशमें ब्रह्म है! इसलिये भगवान्ने अपनेको ब्रह्मका आधार बताया है—‘ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्’ (गीता १४। २७) ‘मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ’ तथा ‘मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना’ (गीता ९। ४) ‘यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।’ भगवान्के इस कथनका तात्पर्य है कि ब्रह्मका अंश मैं नहीं हूँ, प्रत्युत मेरा अंश ब्रह्म है। अतः निष्पक्ष विचार करनेसे ऐसा दीखता है कि गीतामें ब्रह्मकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत ईश्वरकी मुख्यता है। पूर्ण तत्त्व समग्र ही है। समग्रमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब आ जाते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो समग्ररूप सगुणका ही हो सकता है; क्योंकि सगुण शब्दके अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुण शब्दके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। कारण कि सगुणमें

निर्गुणका निषेध नहीं है, जबकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अतः निर्गुणमें समग्र शब्द लग ही नहीं सकता। इसलिये यहाँ 'अध्यात्म' और 'कर्म' के साथ तो क्रमशः 'कृत्स्न' और 'अखिल' शब्द आये हैं, जो समग्रताके वाचक हैं, पर 'ब्रह्म' के साथ समग्रताका वाचक कोई शब्द कहीं भी नहीं आया है। अतः समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं।

====0:====

तीसरा अध्याय

निर्गुणोपासनामें जो देहसहित है, वह 'उपासक' (जीव) है और जो देहरहित है, वह 'उपास्य' (ब्रह्म) है। देहके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही जीव और ब्रह्मकी एकतामें खास बाधक है। इसलिये देहाभिमानिके लिये निर्गुणोपासनाकी सिद्धि कठिनतासे तथा देरीसे होती है—'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते' (गीता १२। ५)। परन्तु सगुणोपासनामें भगवान्की विमुखता बाधक है, देहाभिमान बाधक नहीं है। इसलिये सगुणोपासक संसारसे विमुख होकर भगवान्के सम्मुख हो जाता है, साधनके आश्रित न होकर भगवान्के आश्रित हो जाता है। अतः भगवान् कृपा करके उसका शीघ्र ही उद्धार कर देते हैं*। यह सगुणोपासनाकी विलक्षणता है!

सगुणोपासनामें भक्त जगत्को मिथ्या मानकर उसके त्यागपर जोर नहीं देता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें जड़-चेतन, सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९। १९)। इसलिये सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। गीताने सगुणको समग्र माना है और ब्रह्म, जीव, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन सबको समग्र भगवान्के ही अन्तर्गत माना है (गीता ७। २९-३०)। इसलिये गीताको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुणोपासना (ब्रह्मकी उपासना) समग्र भगवान्के एक अंगकी उपासना है और सगुणोपासना स्वयं समग्र भगवान्की उपासना है—'त्वां पर्युपासते' (गीता १२। १), 'मां ध्यायन्त उपासते' (१२। ६)।

जो समग्र भगवान्के एक अंगकी उपासना करता है, उसको भी अन्तमें समग्रकी प्राप्ति होती है—'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' (गीता १२। ४), 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' (गीता १८। ५५)। अतः जिसको निर्गुण अच्छा लगता हो, वह निर्गुणकी उपासना करे, पर उसको निर्गुणका आग्रह रखकर सगुणका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। सगुणका तिरस्कार, निन्दा, खण्डन करना निर्गुणोपासकके लिये बहुत घातक है अर्थात् उसकी साधनाके सिद्ध होनेमें बहुत बाधक है। कारण कि अपरा प्रकृति भगवान्की है; अतः उसकी निन्दा करनेसे वह भगवान्की निन्दा होती है। गुणोंका खण्डन करनेसे गुणोंकी सत्ता आ जाती है, जो बाधक होती है; क्योंकि सत्ता माने बिना साधक निराकरण किसका

* तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

'हे पार्थ! मुझमें आविष्ट चित्तवाले उन भक्तोंका मैं मृत्युरूप संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

'हे पृथानन्दन! अनन्य चित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।'

करेगा? अतः साधक यदि दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार न करके तत्परतापूर्वक अपने साधनमें लगा रहे तो आगे चलकर सभी साधक एक हो जाते हैं; क्योंकि तत्त्व एक ही है।

सगुणकी उपेक्षा करनेसे साधक मुक्त तो हो सकता है, पर मतभेद नहीं मिट सकता। परन्तु सगुणकी उपेक्षा न रहनेसे मतभेद भी नहीं रहता और साधकको समग्रकी प्राप्ति हो जाती है।

यदि गहराईसे विचार किया जाय तो सगुणकी मुख्यता ही ठीक जँचती है। केवल निर्गुणकी मुख्यता माननेसे सभी बातोंका ठीक समाधान नहीं होता, जबकि केवल सगुणकी मुख्यता माननेसे कोई सन्देह बाकी नहीं रहता। आजकल सगुणको मायायुक्त मानकर उसका तिरस्कार किया जाता है—यह उचित नहीं है। सगुण मायायुक्त नहीं है, प्रत्युत मायाका अधिपति (मालिक) है। सनकादिक, शुकदेव, जनक आदि तत्त्वज्ञ महापुरुषोंका सगुणमें स्वाभाविक प्रेम था, जो समय-समयपर प्रकट होता रहता था। श्रीमद्भागवतमें आया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १। ७। १०)

‘ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जड़ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्की हेतुरहित (निष्काम) भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान् श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं (कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं)।’

====0:====

चौथा अध्याय

भगवान्के समग्ररूपमें सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार आदि सब रूप भी आ जाते हैं और संसार भी आ जाता है। इस समग्ररूपको भगवान्ने गीतामें ‘वासुदेवः सर्वम्’ (गीता ७। १९) अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है—ऐसा भी कहा है।

मनुष्य और उसकी प्रकृति दो होते हुए भी एक होते हैं और एक होते हुए भी दो होते हैं। जैसे, आपमें आपका बल, स्वभाव, योग्यता, विद्या आदि आपसे एक भी है और आपसे अलग भी है। आपका बल कभी घटता है, कभी बढ़ता है। आपका स्वभाव अच्छा भी होता है, मन्दा भी होता है। तात्पर्य है कि आपकी प्रकृति कम-ज्यादा होती है, पर आप कम-ज्यादा नहीं होते। आप वैसे-के-वैसे रहते हैं। पर आप अपनी प्रकृति (बल, स्वभाव आदि)-को अपनेसे अलग करके नहीं दिखा सकते। इस प्रकार बल, स्वभाव, योग्यता, विद्या आदिके सहित आपका जो स्वरूप है, वह आपका समग्ररूप है। इसी प्रकार अपरा और परा, जड़ और चेतनके सहित भगवान्का जो स्वरूप है, वह भगवान्का समग्ररूप है।

यद्यपि सात्त्विक, राजस और तामस भाव भी भगवान्के ही रूप हैं, तथापि वे सब उपासना करनेयोग्य नहीं हैं। उपासना उसी रूपकी करनी चाहिये, जिससे जीवका कल्याण हो। इसलिये भगवान्ने कहा है कि मैं उन भावोंमें और वे भाव मेरेमें नहीं हैं—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।

मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

(गीता ७। १२)

‘जितने भी सात्त्विक भाव हैं और जितने भी राजस तथा तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं—ऐसा उनको समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं।’

अगर कोई तामस उपासना करेगा तो उसको नरकरूपसे भगवान् मिलेंगे; क्योंकि नरक भी भगवान् ही हैं! इसलिये ‘जानने’ और ‘मानने’ में तो सब भगवान्का ही स्वरूप है, पर ‘करने’ में उपासना करनेयोग्य रूप और उपासना न करनेयोग्य रूप अलग-अलग हैं।

====0:====

पाँचवाँ अध्याय

भगवान्का यह स्वभाव है कि जो जिस प्रकारसे उनका आश्रय लेता है, वे भी उसी प्रकारसे उसको आश्रय देते हैं और जो जिस भावसे उनका भजन करता है, वे भी उसी भावसे उसका भजन करते हैं—‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्’ (गीता ४। ११)।

जब भगवान्की बात चलती है, तब भक्त उसीमें मस्त हो जाता है और दूसरी सब बातें भूल जाता है। इसी तरह गीताजीमें छठे अध्यायके अन्तमें भक्तकी बात चली—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

‘सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मेरेमें तल्लीन हुए मनसे (प्रेमपूर्वक) मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।’

तात्पर्य है कि कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, हठयोगी, लययोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी आदि जितने भी योगी हो सकते हैं, उन सब योगियोंमें मेरा भक्त सर्वश्रेष्ठ है। भक्तकी बात चलनेपर भगवान् उसीमें मस्त हो गये, दूसरी सब बातें भूल गये और अर्जुनके द्वारा प्रश्न किये बिना ही भक्तकी बात कहनेके लिये अपनी तरफसे सातवाँ अध्याय शुरू कर दिया! भगवान्ने कहा कि मैं वह विज्ञानसहित ज्ञान कहूँगा, जिससे तू मेरे समग्ररूपको जान जायगा। मेरे समग्ररूपको जाननेके बाद फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा*; क्योंकि जब मेरे सिवाय किञ्चिन्मात्र भी कुछ है ही नहीं, फिर जानना क्या बाकी रहा?—‘मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय’ (गीता ७। ७); ‘यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव’ (गीता ४। ३५)। भगवान्के इस समग्ररूपको शरणागत भक्त ही जान सकते हैं। इसलिये जो भक्त भगवान्की शरण लेकर लगनपूर्वक साधन करते हैं, वे विज्ञानसहित ज्ञानको अर्थात् भगवान्के समग्ररूपको जान लेते हैं। भगवान् कहते हैं—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।

* ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥

(गीता ७। २९-३०)

‘वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं। जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।’

ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), अध्यात्म (अनन्त जीव) तथा अखिल कर्म (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकी सम्पूर्ण क्रियाएँ)—यह ‘ज्ञान’ का विभाग है और अधिभूत (अपने शरीरसहित सम्पूर्ण पांचभौतिक जगत्), अधिदैव (मन-इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवतासहित ब्रह्माजी आदि सभी देवता), तथा अधियज्ञ (अन्तर्यामी विष्णु और उनके सभी रूप)—यह ‘विज्ञान’ का विभाग है। ज्ञानके विभागमें ‘निर्गुण’ की और विज्ञानके विभागमें ‘सगुण’ की मुख्यता है।

गीतामें भगवान्ने दो निष्ठाएँ बतायी हैं—कर्मयोग और ज्ञानयोग। ये दोनों ही निष्ठाएँ लौकिक हैं—‘लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा’ (गीता ३। ३)। परन्तु भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। कारण कि कर्मयोगमें ‘क्षर’ (संसार)—की प्रधानता है और ज्ञानयोगमें ‘अक्षर’ (जीवात्मा)—की प्रधानता है। क्षर और अक्षर—दोनों ही लोकमें हैं—‘द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च’ (गीता १५। १६)। इसलिये कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों लौकिक निष्ठाएँ हैं। परन्तु भक्तियोगमें ‘परमात्मा’ की प्रधानता है, जो क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

(गीता १५। १७)

‘उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो परमात्मा नामसे कहा गया है।’

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

(गीता १५। १८)

‘मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ।’

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।

(श्वेताश्वतर० १। १०)

‘प्रकृति तो क्षर (नाशवान्) है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अक्षर (अविनाशी) है। इन क्षर और अक्षर—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है।’

इसलिये भक्तियोग अलौकिक निष्ठा है। भगवान्के समग्ररूपमें ब्रह्म, अध्यात्म तथा कर्म—इनमें लौकिक निष्ठा (कर्मयोग और ज्ञानयोग)—की बात आयी है और अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ—इनमें अलौकिक निष्ठा (भक्तियोग)—की बात आयी है।

ज्ञान लौकिक है* और विज्ञान अलौकिक है। आत्मज्ञान लौकिक है और परमात्मज्ञान अलौकिक है। मुक्ति लौकिक है और प्रेम अलौकिक है। करणसापेक्ष साधन लौकिक है और करणनिरपेक्ष साधन अलौकिक है। लौकिक तथा अलौकिक—दोनों ही समग्र भगवान्के रूप हैं।

प्रश्न—ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म—ये तीनों लौकिक कैसे हैं?

* न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (गीता ४। ३८) ‘इस मनुष्यलोकमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला दूसरा कोई साधन नहीं है।’

उत्तर—भगवान्ने ब्रह्मको ‘अक्षर’ कहा है—‘अक्षरं ब्रह्म परमम्’ (गीता ८। ३) और जीवको भी ‘अक्षर’ कहा है—‘द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च’ (गीता १५। १६) अतः ब्रह्म और जीवकी एकता होनेसे ब्रह्म भी लौकिक है। इसलिये जीव और ब्रह्मको एक माना गया है—‘जीवो ब्रह्मैव नापरः’। क्षेत्रके साथ सम्बन्ध होनेसे जो ‘जीव’ कहलाता है, वही क्षेत्रके साथ सम्बन्ध न होनेसे ‘ब्रह्म’ कहलाता है—‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत’ (गीता १३। २)। तात्पर्य है कि जो व्यष्टिरूपसे जीव है, वही समष्टिरूपसे ब्रह्म है। अतः जैसे जीव लोकमें है, ऐसे ही ब्रह्म भी लोकमें है अर्थात् ब्रह्म लौकिक निष्ठासे प्रापणीय तत्त्व है।

‘अध्यात्म’ अर्थात् जीवने जगत्को धारण किया हुआ है—‘जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्’ (गीता ७। ५) जीवकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसलिये जगत्के संगसे जीव भी जगत् अर्थात् लौकिक हो जाता है। अतः गीतामें जीवके लिये ‘जगत्’ शब्द भी आया है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

(गीता ७। १३)

‘इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सब जगत् इन गुणोंसे पर अविनाशी मेरेको नहीं जानता।’

लोकमें होनेके कारण जीव लौकिक है—‘द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च’ (गीता १५। १६); ‘ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः’ (गीता १५। ७)।

कर्म दो प्रकारके होते हैं—सकाम और निष्काम। ये दोनों ही कर्म लोकमें होनेसे लौकिक हैं—‘यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः’ (गीता ३। ९); ‘क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा’ (गीता ४। १२); ‘कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके’ (गीता १५। २); ‘लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ’ (गीता ३। ३)*।

प्रश्न—अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—ये तीनों अलौकिक कैसे हैं?

उत्तर—अधिभूत अर्थात् सम्पूर्ण पांचभौतिक जगत् भगवान्का शरीर होनेसे अलौकिक ही हुआ—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च

ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।

सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं

यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

‘आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, जीव-जन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र—सब-के-सब भगवान्के ही शरीर हैं—ऐसा मानकर भक्त सभीको अनन्यभावसे प्रणाम करता है।’

भगवान्ने अर्जुनको अपना जो विराटरूप दिखाया था, वह दिव्य (अलौकिक) था—‘नानाविधानि दिव्यानि’ (गीता ११। ५); ‘अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्’ (गीता ११। १०); ‘दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्’ (गीता ११। ११); ‘ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्’ (गीता ११। १५)। वह दिव्य विराटरूप भगवान्ने अपने शरीरमें ही दिखाया था—

भगवान्के वचन हैं—‘मम देहे गुडाकेश’ (गीता ११। ७)

* गीतामें ‘लोक’ शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। इसको जाननेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित ‘गीता-दर्पण’ ग्रन्थमें ‘गीताका अनेकार्थ-शब्दकोश’ देखना चाहिये।

संजयके वचन हैं—‘अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे’ (गीता ११। १३)

अर्जुनके वचन हैं—‘पश्यामि देवांस्तव देव देहे’ (गीता ११। १५)

अतः भगवान्का ही विराटरूप होनेसे यह पांचभौतिक जगत् भी अलौकिक ही है। भगवान्ने अपनी विभूतियोंको भी दिव्य कहा है—‘हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः’ (गीता १०। १९); ‘नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप’ (गीता १०। ४०)। अर्जुनने भी कहा है—‘वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः’ (गीता १०। १६)। परन्तु जीवको अज्ञानवश अपनी बुद्धिसे राग-द्वेषके कारण यह जगत् लौकिक दीखता है। इसलिये जगत् न तो महात्माकी दृष्टिमें है और न भगवान्की दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है। महात्माकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान् ही हैं—‘वासुदेवः सर्वम्’ (गीता ७। १९), भगवान्की दृष्टिमें सत्-असत् सब कुछ वे ही हैं—‘सदसच्चाहमर्जुन’ (गीता ९। १९), पर जीवने राग-द्वेषके कारण जगत्को अपनी बुद्धिमें धारण कर रखा है—‘यथेदं धार्यते जगत्’ (गीता ७। ५)।

अधिदैव अर्थात् ब्रह्माजी आदि सभी देवता अलौकिक, दिव्य हैं। अधियज्ञ अर्थात् अन्तर्यामी भगवान् सबके हृदयमें रहते हुए भी निर्लिप्त होनेके कारण अलौकिक हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डक० ३। १। १; श्वेताश्वतर० ४। ६)

‘एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी—जीवात्मा और परमात्मा एक ही वृक्ष—शरीरका आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके सुख-दुःखरूप कर्मफलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है, पर दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।’

भगवान्के समग्ररूपका वर्णन करनेका तात्पर्य यही है कि जड़-चेतन, सत्-असत् जो कुछ भी है, वह सब भगवान्का ही स्वरूप है। इसलिये भगवान्ने समग्ररूप-वर्णनके आदि और अन्तमें ‘माम्’ पद दिया है, जो समग्रका वाचक है—‘मामाश्रित्य’ (गीता ७। २९) और ‘मां ते विदुः’ (गीता ७। ३०)। सब कुछ भगवान् ही हैं—इस प्रकार जो मनुष्य भगवान्के समग्ररूपको जान लेते हैं, वे ‘युक्तचेता’ (भगवान्में लगे हुए चित्तवाले) हैं। ऐसे युक्तचेता भक्त अन्तकालमें मनके विचलित होनेपर भी योगभ्रष्ट नहीं होते, प्रत्युत भगवान्को ही प्राप्त होते हैं—‘प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः’। कारण कि उनकी दृष्टिमें जब भगवान्के सिवाय किञ्चिन्मात्र भी दूसरी सत्ता है ही नहीं, तो फिर मनके विचलित होनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। दूसरी सत्ताकी मान्यता न होनेके कारण उनका मन जहाँ जायगा, परमात्मामें ही जायगा, फिर उनका मन कैसे विचलित होगा और मनके विचलित हुए बिना वे योगभ्रष्ट कैसे होंगे? कारण कि योगसे मनके विचलित होनेपर ही मनुष्य योगभ्रष्ट होता है—‘योगाच्चलितमानसः’ (गीता ६। ३७)। इसलिये भगवान्ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

‘हे पार्थ! अनन्यचित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।’

एक मार्मिक बात है कि जबतक साधक एक भगवान्की सत्ताके सिवाय दूसरी सत्ता मानेगा,

तबतक उसका मन सर्वथा निरुद्ध नहीं हो सकता*।

कारण कि जबतक अपनेमें दूसरी सत्ताकी मान्यता है, तबतक रागका सर्वथा नाश नहीं हो सकता और रागका सर्वथा नाश हुए बिना मन सर्वथा निर्विषय नहीं हो सकता। रागके रहते हुए मनका सीमित निरोध होता है, जिससे लौकिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है, वास्तविक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। दूसरी सत्ताकी मान्यता रहते हुए जो मन निरुद्ध होता है, उसमें व्युत्थान होता है अर्थात् उसमें समाधि और व्युत्थान—ये दो अवस्थाएँ होती हैं। कारण कि दूसरी सत्ता माने बिना दो अवस्थाएँ सम्भव ही नहीं हैं। दूसरी सत्ताकी मान्यता न रहनेके कारण भक्तका प्रेम भी अनन्य होता है। अतः जैसे व्यवहारमें एकता करना महान् गलती है, ऐसे ही तत्त्व (चिन्मय सत्ता)—में भेद करना भी महान् गलती है।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने कहा है—‘जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार’ (मानस, बाल० ६)। तात्पर्य है कि जड़ और चेतन—दोनों ब्रह्माजीकी सृष्टिमें होनेसे लौकिक हैं। गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

(गीता १५। १६)

‘इस लोकमें क्षर और अक्षर—ये दो प्रकारके पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीर क्षर (नाशवान्) हैं और कूटस्थ जीवात्मा अक्षर (अविनाशी) कहा गया है।’

इस दृष्टिसे क्षर और अक्षर, शरीर और शरीरी, देह और देही, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—ये सभी लौकिक हैं।

दैवी सम्पत्ति मुक्त करनेवाली और आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली है—‘दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता’ (गीता १६। ५)। दैवी और आसुरी—दोनों ही सम्पत्तिवाले प्राणी लौकिक हैं—‘द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च’ (गीता १६। ६)। इसलिये मोक्ष और बन्धन भी लौकिक हैं। तात्पर्य है कि बन्धन और मोक्ष—दोनों ही सापेक्ष होनेसे लौकिक हैं। निरपेक्ष तत्त्वमें न बन्धन है और न मोक्ष है⁺। अतः वास्तविक तत्त्व अलौकिक है।

चेतन और जड़, जीव और जगत् विचारके विषय हैं; अतः ‘ज्ञान’ लौकिक है। परन्तु भगवान् विचारके विषय नहीं हैं, प्रत्युत श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं*; अतः ‘भक्ति’ अलौकिक है। ज्ञानमार्गमें जबतक विवेक रहता है, तबतक लौकिकता रहती है। जब विवेक तत्त्वज्ञानमें परिणत हो जाता है, तब ज्ञानीमें भी अलौकिकता आ जाती है। कारण कि ज्ञान (तत्त्वज्ञान) अज्ञानका नाशक है। अज्ञानका

* इस एक वाक्यके सामने पूरा पातंजलयोगदर्शन फीका हो जाता है!—सम्पादक

× न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(आत्मोपनिषद् ३१; माण्डूक्यकारिका २। ३२; तत्त्वोपदेश ८१; विवेकचूड़ामणि ५७५)

‘न प्रलय है और न उत्पत्ति है, न बद्ध है और न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है—यही परमार्थता अर्थात् वास्तविक तत्त्व है।’

⁺ भगवान् श्रद्धा-विश्वासके विषय हैं, इसलिये आस्तिक और नास्तिक—दोनों तरहके दर्शन हैं। न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन लौकिक हैं। योगदर्शन और सांख्यदर्शन लौकिक तथा अलौकिक दोनों हैं। पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा केवल अलौकिक हैं।

नाश करके ज्ञान भी शान्त हो जाता है और ज्ञानीमें अलौकिकता आ जाती है। इसलिये जैसे भक्तिमार्गमें मीराबाईका शरीर चिन्मय होकर लीन हो गया था, ऐसे ही ज्ञानमार्गमें भी कबीर साहेबका शरीर चिन्मय होकर लीन हो गया था।

अवतारके समय लौकिक दृष्टिसे दीखनेपर भी भगवान् सदा अलौकिक ही रहते हैं। लोकमें अवतार लेनेपर भी उनकी अलौकिकता ज्यों-की-त्यों रहती है। भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायय ॥

(गीता ४। ६)

‘मैं अजन्मा और अविनाशी-स्वरूप होते हुए भी तथा सम्पूर्ण प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।’

भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं, इसलिये यह जगत् भगवान्का आदि अवतार कहा जाता है—‘आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य’ (श्रीमद्भा २। ६। ४१)। जैसे भगवान्ने राम, कृष्ण आदि रूपोंसे अवतार लिया है, ऐसे ही जगत्-रूपसे भी अवतार लिया है। इसको अवतार इसलिये कहते हैं कि इसमें भगवान् दृश्यरूपसे दीखनेमें आ जाते हैं।

अवतारके समय भगवान् अलौकिक होते हुए भी राग-द्वेषके कारण अज्ञानियोंको लौकिक दीखते हैं—‘अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः’ (गीता ७। २४); ‘मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्’ (गीता ७। २५); ‘अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्’ (गीता ९। ११)।

वास्तवमें लौकिक-अलौकिकका विभाग राग-द्वेषके कारण ही है। राग-द्वेष न हो तो सब कुछ अलौकिक (चिन्मय) ही है—‘वासुदेवः सर्वम्’। कारण कि लौकिककी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। राग-द्वेषके कारण ही लौकिककी सत्ता और महत्ता दीखती है। राग-द्वेषके कारण ही जीवने भगवत्स्वरूप संसारको भी लौकिक बना दिया और खुद भी लौकिक बन गया! इसलिये भगवान्ने राग-द्वेषको साधकका महान् शत्रु बताया है—

इन्द्रियस्येन्द्रियार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

(गीता ३। ३४)

‘इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रत्येक विषयमें मनुष्यके राग और द्वेष व्यवस्थासे (अनुकूलता और प्रतिकूलताको लेकर) स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके (पारमार्थिक मार्गमें) विघ्न डालनेवाले शत्रु हैं।’

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३। ३७)

‘रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम अर्थात् कामना ही पापका कारण है। यह काम ही क्रोधमें परिणत होता है। यह बहुत खानेवाला और महापापी है। इस विषयमें तू इसको ही वैरी जान।’

‘क्षर’ (नाशवान्)-की मुख्यता माननेसे जीव असुर बन जाता है, ‘अक्षर’ (अविनाशी)-की मुख्यता माननेसे जीव ज्ञानी बन जाता है और ‘पुरुषोत्तम’ (समग्र भगवान्)-की मुख्यता माननेसे जीव प्रेमी बन जाता है। प्रेमी बननेसे भक्त और भगवान्के बीच प्रेमका आदान-प्रदान होता है। जैसे बच्चेकी

चेष्टा माँको और माँकी चेष्टा बच्चेको प्रसन्न करनेवाली होती है, ऐसे ही भक्तकी चेष्टा भगवान्को और भगवान्की चेष्टा भक्तको प्रसन्न करनेवाली, आनन्द देनेवाली, प्रेमरसकी वृद्धि करनेवाली होती है। प्रेमी और प्रेमास्पदकी इस अभिन्नताको गोस्वामीजी महाराजने बड़े सुन्दर ढंगसे कहा है—‘गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न’ (मानस, बाल० १८) अर्थात् जो वाणी तथा उसके अर्थ और जल तथा उसकी लहरके समान कहनेमें ही अलग-अलग दीखते हैं, पर वास्तवमें एक ही हैं। यहाँ गोस्वामीजीने पहले स्त्रीवाचक ‘गिरा’ शब्द देकर फिर पुरुषवाचक ‘अरथ’ शब्द दिया है और उसके बाद पहले पुरुषवाचक ‘जल’ शब्द देकर फिर स्त्री-वाचक ‘बीचि’ शब्द दिया है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि स्त्रीवाचक ‘सीता’ और पुरुषवाचक ‘राम’—दोनों अभिन्न हैं। अतः चाहे ‘सीता’ पहले कहो (सीताराम कहो), चाहे ‘राम’ पहले कहो (रामसीता कहो)—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है*।

प्रेममें कोई भेद नहीं रहता। प्रेममें भक्त और भगवान्—दोनों समान हैं—‘तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।’ (नारदभक्ति० ४१) ‘भगवान्में और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।’

====0:====

छठा अध्याय

भगवान् सम्पूर्ण संसारके बीज हैं—‘यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन’ (गीता १०।३९); ‘बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्’ (गीता ७।१०)। बीजसे जितनी चीजें पैदा होती हैं, वे सब बीजरूप ही होती हैं। जैसे, गेहूँसे पैदा होनेवाली खेतीको भी गेहूँ ही कहते हैं। किसानलोग कहते हैं कि गेहूँकी खेती बहुत अच्छी हुई है! देखो, खेतमें गेहूँ खड़े हैं, गेहूँसे खेत भरा है! परन्तु कोई शहरमें रहनेवाला व्यापारी हो, वह उसको गेहूँ कैसे मान लेगा? वह कहेगा कि मैंने बोरे-के-बोरे गेहूँ खरीदा और बेचा है, क्या मैं नहीं जानता कि गेहूँ कैसा होता है? यह तो घास है, डंठल और पत्ती है, यह गेहूँ नहीं है। परन्तु खेती करनेवाला जानकार आदमी तो यही कहेगा कि यह वह घास नहीं है, जो पशु खाया करते हैं; यह तो गेहूँ है। खेतीको गाय खा जाती है तो कहते हैं कि तुम्हारी गाय हमारा गेहूँ खा गयी, जबकि उसने गेहूँका एक दाना भी नहीं खाया। खेतमें भले ही गेहूँका एक दाना भी न दीखे, पर यह गेहूँ है—इसमें सन्देह नहीं होता। कारण कि यह पहले भी गेहूँ ही था, अन्तमें भी गेहूँ रहेगा; अतः बीचमें खेतीरूपसे अलग दीखते हुए भी गेहूँ ही है। अभी तो यह हरी-हरी घास दीखती है, पर बादमें पकनेपर इससे गेहूँ ही निकलेगा। इसी तरह संसारके पहले भी परमात्मा थे—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ (छान्दोग्य० ६।२।१), अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे—‘शिष्यते शेषसंज्ञः’ (श्रीमद्भा० १०।३।२५)। अतः बीचमें भी सब कुछ परमात्मा ही हैं—‘वासुदेवः सर्वम्’ (गीता ७।१९)। जो आरम्भ और अन्तमें होता है, वह बीचमें भी होता है, यह सिद्धान्त है—

यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।

(श्रीमद्भा० ११।२४।१७)

* भरतजी प्रेम-विभोर होकर ‘रामसिय-रामसिय’ नामका उच्चारण करते हैं—

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग। कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

(मानस, अयोध्या० २०३)

‘जिसके आदि और अन्तमें जो है, वही बीचमें भी है और वही सत्य है।’

मुक्त होनेपर भी महापुरुषने जिस साधनसे मुक्ति प्राप्त की है, उस साधनका एक संस्कार (अहम्की सूक्ष्म गन्ध) रह जाता है, जो दूसरे दार्शनिकोंके साथ एकता नहीं होने देता। इस संस्कारके कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अपने मतका संस्कार दूसरे दार्शनिकोंके मतोंका समान आदर नहीं करने देता। परन्तु प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अपने मतका संस्कार भी नहीं रहता और सबके साथ एकता हो जाती है अर्थात् सम्पूर्ण मतभेद मिट जाते हैं और भगवान्के समग्ररूपका अर्थात् ‘वासुदेवः सर्वम्’ का अनुभव हो जाता है। वास्तवमें ‘वासुदेवः सर्वम्’ का अनुभव करनेवाला, इसको जाननेवाला, कहनेवाला भी नहीं रहता, प्रत्युत एक वासुदेव ही रहता है, जो अनादिकालसे ज्यों-का-त्यों है। सबमें परमात्माको देखनेसे सम्पूर्ण मतोंमें समान आदरभाव हो जाता है; क्योंकि अपने इष्ट परमात्मासे विरोध सम्भव ही नहीं है—‘निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करहि विरोध’ (मानस, उत्तर० ११२ ख)।

ईश्वर और जीव (स्वरूप)-के विषयमें दो तरहका वर्णन है—(१) ईश्वर समुद्र है और जीव उसकी तरंग है अर्थात् तरंग समुद्रकी है और (२) जीव समुद्र है और ईश्वर उसकी तरंग है अर्थात् समुद्र तरंगका है। इन दोनोंमें तरंग समुद्रकी है—ऐसा मानना ही ठीक दीखता है। समुद्र तरंगका है—ऐसा मानना ठीक नहीं दीखता; क्योंकि समुद्र अपेक्षाकृत नित्य है और तरंग अनित्य (क्षणभंगुर) है। अतः तरंग समुद्रकी होती है, समुद्र तरंगका नहीं होता*।

अगर अपनेको समुद्र और ईश्वरको तरंग मानें तो इस मान्यतासे अनर्थ होगा; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान पैदा हो जायगा तथा अहम् (चिज्जड़ग्रन्थि) तो नित्य रहेगा और ईश्वर अनित्य हो जायगा! कारण कि जीवमें अनादिकालसे अहम् (व्यक्तित्व)-का अभ्यास पड़ा हुआ है। अतः जहाँ स्वरूपको अहम् कहेंगे, वहाँ वही अहम् आयेगा, जो अनादिकालसे है। उस अहम्के मिटनेसे ही मुक्ति होती है। उपर्युक्त दोनों बातोंके सिवाय तीसरी एक विलक्षण बात है कि जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है अर्थात् वहाँ समुद्र और तरंगका भेद नहीं है। यही वास्तविक बात है। समुद्र और तरंग तो सापेक्ष हैं, पर जल-तत्त्व निरपेक्ष है।

जैसे जल-तत्त्वमें समुद्र, नदी, वर्षा, ओस, कोहरा, भाप, बादल आदि सब मिटकर एक हो जाते हैं, ऐसे ही ‘वासुदेवः सर्वम्’ में सभी साधन, योगमार्ग मिटकर एक (वासुदेवरूप) हो जाते हैं। जैसे जल-तत्त्वमें कोई भेद नहीं है, ऐसे ही ‘वासुदेवः सर्वम्’ में कोई भेद नहीं है। मतभेदसे असन्तोष होता है, पर ‘वासुदेवः सर्वम्’ में कोई मतभेद न होनेसे सबको सर्वथा सन्तोष हो जाता है। ‘वासुदेवः सर्वम्’ में न योगी है, न ज्ञानी है, न प्रेमी है, इसलिये इसका अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

* सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

(शंकराचार्यकृत षट्पदी ३; गर्गसंहिता, अश्व० ३९। ४)

‘हे नाथ! आपमें और मुझमें भेद न होनेपर भी मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं; क्योंकि तरंग ही समुद्रकी होती है, तरंगका समुद्र नहीं होता।’

‘बहुत जन्मोंके अन्तिम जन्ममें अर्थात् मनुष्यजन्ममें ‘सब कुछ परमात्मा ही हैं’—इस प्रकार जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।’

एक ही जल बर्फ, कोहरा, बादल, ओला, वर्षा, नदी, तालाब, समुद्र आदि अनेक रूपोंमें हो जाता है। कड़ाहीमें बर्फ डालकर उसको अग्निपर रखा जाय तो बर्फ पिघलकर पानी हो जायगी। फिर पानी भी भाप हो जायगा और भाप परमाणु होकर निराकार हो जायगा। जल ही कोहरारूपसे होता है, वही बादलरूपसे होता है, वही निराकाररूपसे होता है, वही बर्फरूपसे होता है, वही ओलारूपसे होता है, वही वर्षारूप होकर पृथ्वीपर बरसता है, वही नदीरूपसे होता है, वही समुद्ररूपसे होता है। अनेक रूपसे होनेपर भी तत्त्वसे जल एक ही रहता है। इसी तरह एक ही भगवान् अनेक रूपसे बन जाते हैं। जैसे जल ठण्डकसे जमकर बर्फ हो जाता है और गरमीसे पिघलकर तथा भाप बनकर परमाणुरूप हो जाता है, ऐसे ही अज्ञानरूपी ठण्डकसे भगवान् स्थूल तथा जड़ संसाररूपसे दीखते हैं और ज्ञानरूपी अग्निसे सूक्ष्म तथा चेतन वासुदेवरूपसे दीखते हैं। जल चाहे बर्फरूपसे दीखे, चाहे भाप, बादल आदि रूपोंसे दीखे, है वह जल ही। जलके सिवाय कुछ नहीं है। ऐसे ही भगवान् चाहे संसाररूपसे दीखें, चाहे अन्य रूपोंसे दीखें, हैं वे भगवान् ही। भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है।

दार्शनिक दृष्टिसे विचार करें तो सत्ता एक ही हो सकती है, दो नहीं। श्रद्धा-विश्वास (भक्ति)–की दृष्टिसे देखें तो सब कुछ भगवान् ही हैं, भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है। भक्तकी दृष्टि भगवान्को छोड़कर दूसरी तरफ जाती ही नहीं और भगवान्के सिवाय दूसरा कोई उसकी दृष्टिमें आता ही नहीं।

साधकसे एक गलती होती है कि वह अपनेको अलग रखकर संसारको भगवत्स्वरूप देखनेकी चेष्टा करता है अर्थात् ‘वासुदेवः सर्वम्’ को अपनी बुद्धिका विषय बनाता है। वास्तवमें दीखनेवाला संसार ही भगवत्स्वरूप नहीं है, प्रत्युत देखनेवाला भी भगवत्स्वरूप है—‘सकलमिदमहं च वासुदेवः’ (विष्णुपुराण ३। ७। ३२)। अतः साधकको ऐसा मानना चाहिये कि अपनी देहसहित सब कुछ भगवान् ही हैं अर्थात् शरीर भी भगवत्स्वरूप है, इन्द्रियाँ भी भगवत्स्वरूप हैं, मन भी भगवत्स्वरूप है, बुद्धि भी भगवत्स्वरूप है, प्राण भी भगवत्स्वरूप हैं और अहम् (मैंपन) भी भगवत्स्वरूप है। सब कुछ भगवान् ही हैं—इसको माननेके लिये साधकको बुद्धिसे जोर नहीं लगाना चाहिये, प्रत्युत सहजरूपसे जैसा है, वैसा स्वीकार कर लेना चाहिये। इसलिये श्रीमद्भागवतमें आया है—

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्याऽऽत्ममनीषया।

परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। १८)

‘जब सबमें भगवद्बुद्धि की जाती है, तब ‘सब कुछ भगवान् ही हैं’—ऐसा दीखने लगता है। फिर इस परमात्मदृष्टिसे भी उपराम होनेपर सम्पूर्ण संशय स्वतः निवृत्त हो जाते हैं।’

तात्पर्य है कि ‘सब कुछ भगवान् ही हैं’—इस भावसे भी उपराम हो जाय अर्थात् न द्रष्टा (देखनेवाला) रहे, न दृश्य (दीखनेवाला) रहे और न दर्शन (देखनेकी वृत्ति) ही रहे, केवल भगवान् ही रहें।

====0:====

सातवाँ अध्याय

संसार प्रकृतिका कार्य है और प्रकृति भगवान्की शक्ति है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(श्वेताश्वतर० ४। १०)

‘माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और मायापति महेश्वरको समझना चाहिये।’

भगवान्की शक्ति होनेसे प्रकृति और उसका कार्य भगवत्स्वरूप ही हैं; क्योंकि शक्ति शक्तिमान्से अलग नहीं हो सकती। जैसे शरीरके गोरे या काले रंगको शरीरसे अलग नहीं कर सकते, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओंको शरीरसे अलग नहीं कर सकते, ऐसे ही प्रकृतिको भगवान्से अलग नहीं कर सकते। जैसे मनुष्य अपनी शक्ति (बल, ताकत, विद्वत्ता, योग्यता, चातुर्य, सामर्थ्य आदि) के बिना तो रह सकता है, पर शक्ति मनुष्यके बिना नहीं रह सकती, ऐसे ही भगवान् शक्तिके बिना रह सकते हैं, पर शक्ति भगवान्के बिना नहीं रह सकती। तात्पर्य है कि शक्ति भगवान्के अधीन (आश्रित) है, भगवान् शक्तिके अधीन नहीं हैं। शक्तिमान्के बिना शक्तिकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव होता है। अतः भगवान्की शक्ति होनेसे प्रकृतिकी भी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव है।

वास्तवमें परमात्माका स्वरूप समग्र ही है। परमात्मामें कोई शक्ति न हो—ऐसा नहीं हो सकता। अगर परमात्माको सर्वथा शक्तिरहित मानें तो परमात्मा एकदेशीय ही सिद्ध होंगे। उनमें शक्तिका परिवर्तन अथवा अदर्शन तो हो सकता है, पर शक्तिका अभाव नहीं हो सकता। शक्ति कारणरूपसे उनमें रहती ही है, अन्यथा शक्ति (प्रकृति) के रहनेका स्थान कहाँ होगा? इसलिये गीतामें प्रकृति और पुरुष दोनोंको ‘अनादि’ कहा गया है—‘प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि’ (१३। १९); विश्वरूपको भी गीतामें ‘अव्यय’ कहा गया है—‘योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्’ (११। ४); ‘त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता’ (११। १८); और संसाररूप अश्वत्थ-वृक्षको भी ‘अव्यय’ कहा गया है—‘ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्’ (गीता १५। १)।

इससे सिद्ध हुआ कि जड़-चेतन, स्थावर-जंगमरूपसे जो कुछ दीख रहा है, वह सब अविनाशी भगवान् ही हैं। भगवान्के बिना कुछ भी नहीं है। परन्तु भोग और संग्रहकी आसक्तिके कारण मनुष्यको सब कुछ जड़-ही-जड़ दीखता है! तात्पर्य है कि जड़ संसार केवल जीवकी दृष्टि है। वास्तवमें सब-की-सब वस्तुएँ तत्त्वसे चिन्मय भगवत्स्वरूप हैं। भगवान्के सिवाय मैं-तू-यह-वह कुछ भी नहीं है अर्थात् ‘मैं’ भी भगवान्का स्वरूप है, ‘तू’ भी भगवान्का स्वरूप है, ‘यह’ भी भगवान्का स्वरूप है और ‘वह’ भी भगवान्का स्वरूप है। भगवान् कण-कणमें पूरे-के-पूरे हैं। प्रह्लादजीके कहनेपर भगवान् नृसिंहरूपसे खम्भेमेंसे प्रकट हो गये; क्योंकि वे वहाँ पहलेसे ही थे! इसलिये साधकको वृक्ष, नदी, पहाड़, पत्थर, दीवार आदि कुछ भी दीखे, वह उसमें अपने इष्ट भगवान्को देखकर प्रार्थना कर सकता है कि हे नाथ! मुझे अपना प्रेम प्रदान करो; हे प्रभो! आपको मेरा नमस्कार हो, जैसा कि अर्जुनने कहा है—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

(गीता ११। ३९)

‘आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह (ब्रह्माजीके भी पिता) हैं। आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!! और फिर भी आपको बार-बार

नमस्कार हो! नमस्कार हो !!'

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं-
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

(गीता ११। ४०)

‘हे सर्वस्वरूप! आपको आगेसे भी नमस्कार हो और पीछेसे भी नमस्कार हो! आपको सब ओरसे (दसों दिशाओंसे) ही नमस्कार हो! हे अनन्तवीर्य! असीम पराक्रमवाले आपने सबको (एक देशमें) समेट रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।’

====:0:====

आठवाँ अध्याय

प्रकृति और प्रकृतिके कार्य—क्रिया, पदार्थ आदिके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही सभी विकार पैदा होते हैं और उन क्रिया, पदार्थ आदिकी प्रकटरूपसे सत्ता दीखने लग जाती है। परन्तु प्रकृति और प्रकृतिके कार्यसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करके भगवत्स्वरूपमें स्थित होनेसे उनकी स्वतन्त्र सत्ता उस भगवत्तत्त्वमें ही लीन हो जाती है। फिर उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं दीखती।

जैसे, किसी व्यक्तिके विषयमें हमारी जो अच्छे और बुरेकी मान्यता है, वह मान्यता हमारी ही की हुई है। तत्त्वसे तो वह व्यक्ति भगवान्‌का स्वरूप है अर्थात् उस व्यक्तिमें तत्त्वके सिवाय दूसरा कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही नहीं है। ऐसे ही संसारमें ‘यह ठीक है, यह बेठीक है’ इस प्रकार ठीक-बेठीककी मान्यता हमारी ही की हुई है। तत्त्वसे तो संसार भगवान्‌का स्वरूप ही है। हाँ, संसारमें जो वर्ण-आश्रमकी मर्यादा है, ‘ऐसा काम करना चाहिये और ऐसा नहीं करना चाहिये’—यह जो विधि-निषेधकी मर्यादा है, इसको महापुरुषोंने जीवोंके कल्याणार्थ व्यवहारके लिये मान्यता दी है।

जब यह भौतिक सृष्टि नहीं थी, तब भी भगवान् थे और इसके लीन होनेपर भी भगवान् रहेंगे—इस तरहसे जब वास्तविक भगवत्तत्त्वका बोध हो जाता है, तब भौतिक सृष्टिकी सत्ता भगवान्‌में ही लीन हो जाती है अर्थात् इस सृष्टिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसारकी स्वतन्त्र सत्ता न रहनेपर संसार मिट जाता है, उसका अभाव हो जाता है, प्रत्युत अन्तःकरणमें सत्यत्वेन जो संसारकी सत्ता और महत्ता बैठी हुई थी, जो कि जीवके कल्याणमें बाधक थी, वह नहीं रहती। जैसे सोनेके गहनोंकी अनेक तरहकी आकृति और अलग-अलग उपयोग होनेपर भी उन सबमें एक ही सोना है, ऐसे ही भगवद्भक्तके द्वारा अनेक तरहका यथायोग्य सांसारिक व्यवहार होनेपर भी उन सबमें एक ही भगवत्तत्त्व है—ऐसी अटलबुद्धि रहती है। इस तत्त्वको समझनेके लिये ही गीतामें समग्ररूपका वर्णन हुआ है।

====:0:====

नवाँ अध्याय

सृष्टिसे पहले भी परमात्मा थे और अन्तमें भी परमात्मा ही रहेंगे, फिर बीचमें दूसरा कहाँसे आया? जैसे अन्नकूटके प्रसादमें रसगुल्ले, गुलाबजामुन आदि भी होते हैं और मेथी, करेला आदिका साग भी होता है। मीठा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है और कड़वा भी भगवान्‌का प्रसाद होता है। ऐसे ही जो हमारे मनको सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है और जो नहीं सुहाये, वह भी भगवान्‌का स्वरूप है। सत् भी भगवान्‌का स्वरूप है और असत् भी भगवान्‌का स्वरूप है। अमृत भी भगवान्‌का स्वरूप है और मृत्यु भी भगवान्‌का स्वरूप है—‘अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन’ (गीता ९। १९); ‘मृत्युः सर्वहरश्चाहम्’ (गीता १०। ३४)।

नामदेवजी महाराजके घरमें आग लगी तो लोगोंने उनको समाचार दिया। घरमें आग लगनेका समाचार सुनकर नामदेवजी प्रसन्नतासे नाचने लगे कि मेरे घरमें मेरे और मालिक (भगवान्‌)-के सिवाय और कौन बिना पूछे आ सकता है? भगवान्‌ ही मेरे घरमें अग्निरूपसे आये हैं और वस्तुओंका भोग लगा रहे हैं। घरसे बाहर कई चीजें पड़ी हुई थीं, उनको भी नामदेवजी उठाकर घरके भीतर अग्निमें डालने लगे कि महाराज! इनका भी भोग लगाओ! फिर रातों-रात भगवान्‌ने नामदेवजीका छप्पर बना दिया; क्योंकि जो जिस वस्तुका भोग लगाता है, उसे वही वस्तु प्रसादरूपसे मिलती है। मीराबाईके पास सिंह भेजा गया तो मीराबाई प्रसन्न हो गयीं कि प्रह्लादजीके भगवान्‌ नरसिंहजी आ गये! उन्होंने उस सिंहकी आरती की, माला पहनायी। उसको जलका छींटा लगा तो वह वापस चला गया। तात्पर्य है कि भगवान्‌ किसी भी रूपमें आयें, भक्त उनको पहचान लेता है।

भगवान्‌ चाहे किसी भी रूपमें आयें, उनकी मरजी है। सुन्दर दृश्य हो, पुष्प खिले हों, सुगन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का रूप है और मांस, हड्डियाँ, मैला पड़ा हो, दुर्गन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्‌का रूप है। भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप, वराह आदि रूप भी धारण किये। वे कोई भी रूप धारण करें, हैं तो भगवान्‌ ही! रूप तो भगवान्‌का है और क्रिया उनकी लीला है। कोई पाप, अन्याय करता हुआ दीखे तो समझें कि भगवान्‌ कलियुगकी लीला कर रहे हैं। वे जैसा रूप धारण करते हैं, वैसी ही लीला करते हैं। वराह (सूअर)-का रूप धारण करके वे वराहकी तरह लीला करते हैं और मनुष्यका रूप धारण करके वे मनुष्यकी तरह लीला करते हैं। वे कोई भी रूप धारण करके कैसी ही लीला करें, भक्तकी दृष्टि भगवान्‌को छोड़कर कहीं जाती ही नहीं। जब सब कुछ वे ही हैं, फिर भक्त उनके सिवाय और किसको देखे? इसलिये भक्त कहता है—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव

त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव

त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

—इस श्लोकके दो अर्थ होते हैं—(१) आप ही माता हो, आप ही पिता हो, आप ही बन्धु हो, आप ही सखा हो, आप ही विद्या हो, आप ही धन हो, हे देवदेव! मेरे सब कुछ आप ही हो। (२) मेरी माता भी आपका स्वरूप है, मेरे पिता भी आपके स्वरूप हैं, मेरे बन्धु भी आपके स्वरूप हैं, मेरे सखा भी आपके स्वरूप हैं, मेरी विद्या भी आपका स्वरूप है, मेरा धन भी आपका स्वरूप है, हे देवदेव! मेरा सब कुछ आपका ही स्वरूप है।

अपना कोई एक अत्यन्त प्रिय व्यक्ति मिल जाय तो बड़ा आनन्द आता है। परन्तु जब सब रूपोंमें ही अपने अत्यन्त प्रिय इष्ट भगवान्‌ मिलें तो आनन्दका क्या ठिकाना है! इसलिये सब रूपोंमें

अपने प्यारेको देख-देखकर प्रसन्न होते रहें, मस्त होते रहें। कभी भगवान् सौम्य-रूपसे आते हैं, कभी क्रूर-रूपसे आते हैं, कभी ठण्ड-रूपसे आते हैं, कभी गरमी-रूपसे आते हैं, कभी वायु-रूपसे आते हैं, कभी वर्षा-रूपसे आते हैं, कभी बिजली-रूपसे चमकते हैं, कभी मेघ-रूपसे गर्जना करते हैं। तात्पर्य है कि अनेक रूपोंसे भगवान्-ही-भगवान् आते हैं। जहाँ मन जाय, वहीं भगवान् हैं। अब मनको एकाग्र करनेकी तकलीफ क्यों करें? मनको खुला छोड़ दें। यह दृढ़ विचार कर लें कि मेरा मन जहाँ भी जाय, भगवान्में ही जाता है और मेरे मनमें जो भी आये, भगवान् ही आते हैं; क्योंकि सब कुछ एक भगवान् ही हैं। भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

‘जो भक्त सबमें मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।’

जैसे सब जगह बर्फ-ही-बर्फ पड़ी हो तो बर्फ कैसे छिपेगी? बर्फके पीछे बर्फ रखनेपर भी बर्फ ही दीखेगी! ऐसे ही जब सब रूपोंमें भगवान् ही हैं, तो फिर वे कैसे छिपें, कहाँ छिपें और किसके पीछे छिपें?

===:0:===

दसवाँ अध्याय

गीतामें किसी मतका आग्रह नहीं है, प्रत्युत केवल जीवके कल्याणका आग्रह है। मतभेद गीतामें नहीं है, प्रत्युत टीकाकारोंमें है। गीताके अनुसार चलनेसे सगुण और निर्गुणके उपासकोंमें परस्पर खटपट नहीं हो सकती। गीतामें भगवान् साधकको समग्रकी तरफ ले जाते हैं। सगुण-निर्गुण, साकार निराकार, द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि सब रूप समग्र परमात्माके ही अन्तर्गत हैं। समग्ररूपमें कोई भी रूप बाकी नहीं रहता। किसीकी भी उपासना करें, सम्पूर्ण उपासनाएँ समग्ररूपके अन्तर्गत आ जाती हैं। सम्पूर्ण दर्शन समग्ररूपके अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः सब कुछ परमात्माके ही अन्तर्गत है, परमात्माके सिवाय किञ्चिन्मात्र भी कुछ नहीं है—इसी भावमें सम्पूर्ण गीता है।

सब कुछ परमात्मा ही हैं—यह खुले नेत्रोंका ध्यान है। इसमें न आँख बन्द करने (ध्यान)-की जरूरत है, न कान बन्द करने (नादानुसन्धान)-की जरूरत है, न नाक बन्द करने (प्राणायाम)-की जरूरत है! इसमें न संयोगका असर पड़ता है, न वियोगका; न किसीके आनेका असर पड़ता है, न किसीके जानेका। जब सब कुछ परमात्मा ही है तो फिर दूसरा कहाँसे आये? कैसे आये?

गीता समग्रको मानती है, इसीलिये गीताका आरम्भ और अन्त शरणागतिमें हुआ है। शरणागतिसे ही समग्रकी प्राप्ति होती है।

‘साधक-संजीवनी’ टीका लिखते समय हमारी समझमें निर्गुणकी मुख्यता रही; क्योंकि हमारी पढ़ाईमें निर्गुणकी मुख्यता रही और विचार भी उसीका किया। परन्तु निष्पक्ष होकर गहरा विचार करनेपर हमें भगवान्के सगुण (समग्र) स्वरूप तथा भक्तिकी मुख्यता दिखायी दी। केवल निर्गुणकी मुख्यता माननेसे सभी बातोंका ठीक समाधान नहीं होता। परन्तु केवल सगुणकी मुख्यता माननेसे कोई

सन्देह बाकी नहीं रहता। समग्रता सगुणमें ही है, निर्गुणमें नहीं। भगवान् ने भी सगुणको ही समग्र कहा है—‘असंशयं समग्रं माम्’ (गीता ७। १)।

गीताका सर्वोपरि सिद्धान्त है—‘वासुदेवः सर्वम्’ अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं। संसारके विषयमें दार्शनिकोंके अनेक मतभेद हैं। कोई अजातवाद मानता है, कोई दृष्टिसृष्टिवाद मानता है, कोई विवर्तवाद मानता है, कोई परिणामवाद मानता है, कोई आरम्भवाद मानता है, पर गीता कोई वाद न मानकर ‘वासुदेवः सर्वम्’ को ही मुख्य मानती है। ‘वासुदेवः सर्वम्’ में सभी वाद, मत समाप्त हो जाते हैं। कारण कि जबतक अहम्की सूक्ष्म गंध रहती है, तभीतक दार्शनिकोंमें और दर्शनोंमें मतभेद रहता है, जबकि ‘वासुदेवः सर्वम्’ में अहम्की सूक्ष्म गंध भी नहीं रहती। इसलिये महात्मा तो सभी दार्शनिक हो सकते हैं, पर ‘वासुदेवः सर्वम्’ का अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है। भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

‘बहुत जन्मोंके अन्तिम जन्ममें अर्थात् मनुष्यजन्ममें ‘सब कुछ परमात्मा ही हैं’—इस प्रकार जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।’

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, लययोगी, हठयोगी, राजयोगी, मन्त्रयोगी, अनासक्तयोगी आदि कई तरहके योगी हैं, जो अपने योगमें सिद्ध हो गये हैं, मुक्त हो गये हैं, पर उनको भगवान् ने दुर्लभ नहीं बताया है, प्रत्युत ‘सब कुछ वासुदेव ही है’—इसका अनुभव करनेवाले महात्माको ही दुर्लभ बताया है।

गीतामें एक ही समग्र परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन आया है—

(१) परमात्मा सत् भी हैं और असत् भी हैं—‘सदसच्चाहम्’ (गीता ९। १९)।

(२) परमात्मा सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से पर भी हैं—‘सदसत्तत्परं यत्’ (गीता ११। ३७)।

(३) परमात्मा न सत् हैं और न असत् ही हैं—‘न सत्तन्नासदुच्यते’ (गीता १३। १२)।

—इसका तात्पर्य है कि वास्तवमें एक परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। वह मन, बुद्धि और वाणीसे सर्वथा अतीत है, इसलिये उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, पर उसको प्राप्त किया जा सकता है।

‘सदसच्चाहम्’ (९। १९) तथा ‘सदसत्तत्परं यत्’ (११। ३७)—इन दोनों पदोंसे परमात्माके सगुण रूपकी अनन्तता, समग्रता सिद्ध होती है।

सत् और असत्—दोनों सापेक्ष होनेसे लौकिक हैं और जो इनसे परे है, वह निरपेक्ष होनेसे अलौकिक है। लौकिक और अलौकिक—दोनों ही समग्र परमात्माके रूप हैं। परमात्माकी परा और अपरा प्रकृति सत्-असत्से परे नहीं है, पर परमात्मा सत्-असत्से परे भी हैं—‘मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय’ (गीता ७। ७)।

अर्जुन 'सदसत्तत्परं यत्' पदोंसे मानो यह कहते हैं कि सत् भी आप हैं, असत् भी आप हैं और सत्-असत्के सिवाय जो भी हमारी कल्पनामें आ सकता है, वह भी आप ही हैं। ज्ञानकी दृष्टिसे जो न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है, वह अनिर्वचनीय तत्त्व भी आप ही हैं—'न सत्तन्नासदुच्यते' (गीता १३। १२)। तात्पर्य है कि आपके सिवाय न तो कोई हुआ है, न कोई है, न कोई होगा और न कोई हो ही सकता है अर्थात् केवल आप-ही-आप हैं।

गीतामें भगवान्को भी समग्र कहा है—'असंशयं समग्रं माम्' (गीता ७। १), कर्मोंको भी समग्र कहा है—'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रम्' (गीता ४। २३) और संसारको भी समग्र कहा है—'तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रम्' (गीता ११। ३०)। इसका तात्पर्य है कि सब भगवान्के ही रूप हैं।

साधक कई प्रकारके होते हैं और अलग-अलग साधनोंसे भिन्न-भिन्न उपास्यदेवोंकी उपासना करते हैं। परन्तु वास्तवमें उन सभी साधकोंके द्वारा एक ही समग्र भगवान्की उपासना होती है—'मामुपासते' (गीता ९। १५); 'त्रैविद्या माम्' (गीता ९। २०); 'तेऽपि मामेव' (गीता ९। २३); 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (गीता ९। २४)। कारण कि एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

(गीता ५। १०)

'जो भक्त सम्पूर्ण कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिका त्याग करके कर्म करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता।'

यहाँ सगुण ईश्वरको 'ब्रह्म' कहनेका तात्पर्य है कि ईश्वर सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार सब कुछ है; क्योंकि वह समग्र है। समग्रमें सब आ जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी ब्रह्म (निर्गुण-निराकार), परमात्मा (सगुण-निराकार) और भगवान् (सगुण-साकार)—तीनोंको एक बताया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते॥

(श्रीमद्भा० १। २। ११)

'तत्त्वज्ञ महापुरुष उस ज्ञानस्वरूप एवं अद्वितीय तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कहते हैं।' [वह एक ही तत्त्व निर्गुण-निराकार होनेसे 'ब्रह्म', सगुण-निराकार होनेसे 'परमात्मा' तथा सगुण-साकार होनेसे 'भगवान्' नामसे कहा जाता है।]

तात्पर्य यह हुआ कि 'सगुण' के अन्तर्गत ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये तीनों आ जाते हैं, पर 'निर्गुण' के अन्तर्गत केवल ब्रह्म ही आता है; क्योंकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अतः निर्गुण सीमित है और सगुण समग्र है।

वैष्णवलोग सगुण-साकार भगवान्के उत्सवको 'ब्रह्मोत्सव' नामसे कहते हैं। अर्जुनने भी भगवान् श्रीकृष्णको 'ब्रह्म' नामसे कहा है—'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्' (गीता १०। १२)। गीतामें ब्रह्मके तीन नाम बताये हैं—'ॐ', 'तत्' और 'सत्'—'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' (गीता १७। २३)। नाम-नामीका सम्बन्ध होनेसे यह भी सगुण ही हुआ।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(गीता ७। ३)

‘हजारों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धि (कल्याण)–के लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले सिद्धों (मुक्त पुरुषों)–में कोई एक ही मुझे यथार्थरूपसे जानता है।’

कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि जितने साधन हैं, उन साधनोंसे (यत्न करते हुए) जो सिद्ध हो चुके हैं, ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुषोंमें भी ‘सब कुछ भगवान् ही हैं’—इस प्रकार भगवान्‌के समग्ररूपको यथार्थरूपसे अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्त दुर्लभ हैं* (७। १९)।

‘यततामपि सिद्धानाम्’ पदोंका तात्पर्य है कि वे सिद्ध अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष अपनी स्थिति (मुक्तावस्था)–से असन्तुष्ट हैं और उनके भीतर परमप्रेम (अनन्तरस)–को प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा है, भूख है। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें आया है—‘मुक्तोपसृष्यव्यपदेशात्’ (१। ३। २) ‘उस प्रेमस्वरूप भगवान्‌को मुक्त पुरुषोंके लिये भी प्राप्तव्य बताया गया है’। कारण यह है कि मुक्त होनेपर नाशवान् रसकी कामना तो मिट जाती है, पर अनन्तरसकी भूख नहीं मिटती। वह भूख भगवान्‌की कृपासे ही जाग्रत् होती है। तात्पर्य है कि जो भगवान्‌पर श्रद्धा–विश्वास रखते हुए साधन करते हैं, जिनके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, उनको भगवान् ज्ञानमें सन्तुष्ट नहीं होने देते, उसमें टिकने नहीं देते और उनकी मुक्तिके रसको फीका कर देते हैं।

सिद्ध (मुक्त) तो कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी आदि सभी हो सकते हैं, पर भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेवाले सब नहीं होते। अतः ‘यततामपि सिद्धानाम्’ पदोंका तात्पर्य है कि वे यत्न करते हुए अपनी पद्धतिसे सिद्ध तो हो गये, पर मेरे समग्ररूपको नहीं जान सके! कारण कि मेरे समग्ररूपको पराभक्तिसे ही जाना जा सकता है—‘भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः’ (गीता १८। ५५)।

‘कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः’ पदोंमें ‘माम्’ पद समग्र परमात्माका वाचक है। भगवान्‌के समग्ररूपको भगवान्‌की कृपासे ही जाना जा सकता है, विचारसे नहीं*।

अर्जुनने भी गीता सुननेके बाद भगवान्‌से कहा है कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति प्राप्त हो गयी—‘नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत’ (गीता १८। ७३)। जैसे दूध पिलाते समय गाय अपने बछड़ेको स्नेहपूर्वक चाटती है तो उससे बछड़ेकी जो पुष्टि होती है, वह केवल दूध पीनेसे नहीं होती। ऐसे ही भगवान्‌की कृपासे जो ज्ञान होता है, वह अपने विचारसे नहीं होता; क्योंकि विचार करनेमें स्वयंकी सत्ता रहती है।

केवल निर्गुणको जाननेवाला परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता, प्रत्युत सगुण–निर्गुण दोनोंको (समग्रको) जाननेवाला ही परमात्माको तत्त्वसे जानता है।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

(गीता ७। ७)

* धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्राणी॥ सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥ (मानस, उत्तर० ५४। ३-४)

‘हे धनंजय! मेरे सिवाय इस जगत्का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण तथा कार्य नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही ओतप्रोत है।’

इस श्लोकमें ‘मत्तः’ पद समग्र परमात्माका वाचक है, जो परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंका मालिक है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई हों तो उनमें सूतके सिवाय और कुछ नहीं है, ऐसे ही संसारमें भगवान्के सिवाय और कुछ नहीं है। तात्पर्य है कि मणिरूप अपरा प्रकृति और धागरूप परा प्रकृति—दोनोंमें भगवान् ही परिपूर्ण हैं। मणियाँ बननेमें अपरा प्रकृतिकी मुख्यता है और धागा बननेमें परा प्रकृतिकी मुख्यता है। ‘मणिगणाः’ पद बहुवचनमें देनेका तात्पर्य है कि अपरा प्रकृति स्थावर-जंगम, जलचर-थलचर-नभचर, चौदह भुवन, चौरासी लाख योनियाँ आदि अनन्त रूपोंमें और अनन्त समुदायोंमें विभक्त है।

अपरा और पराका भेद ‘अपरा’ प्रकृतिके कारण ही है; क्योंकि अपराको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेके कारण ही जीव है—‘जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्’ (गीता ७। ५)। अतः अपरा प्रकृति जगत्में भी है और जीवमें भी। परन्तु परमात्मामें न अपरा है, न परा है; न जगत् है, न जीव है। तात्पर्य है कि वास्तवमें न धागा है, न मणियाँ हैं, प्रत्युत एक सूत (रुई) ही है। इसी तरह न अपरा है, न परा है, प्रत्युत एक समग्र परमात्मा ही हैं।

कारण ही कार्यमें परिणत होता है; जैसे, रुई ही धागा बनती है, बीज ही वृक्ष बनता है। अतः सबके परम कारण भगवान् होनेसे सब रूपोंमें भगवान् ही हैं—‘वासुदेवः सर्वम्।’ इसलिये भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ताको देखना भूल है।

भगवान् कहते हैं—‘मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना’ (गीता ९। ४) ‘यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूपसे व्याप्त है।’ मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे जिसका ज्ञान होता है, वह भगवान्का व्यक्तरूप है और जो मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका विषय नहीं है अर्थात् मन आदि जिसको नहीं जान सकते, वह भगवान्का अव्यक्तरूप है। यहाँ भगवान्ने ‘मया’ पदसे व्यक्त (साकार)-स्वरूप और ‘अव्यक्तमूर्तिना’ पदसे अव्यक्त (निराकार)-स्वरूप बताया है। इसका तात्पर्य है कि भगवान् व्यक्तरूपसे भी हैं और अव्यक्तरूपसे भी हैं। इस प्रकार भगवान्की यहाँ व्यक्त-अव्यक्त (साकार-निराकार) कहनेकी गूढ़ाभिसन्धि समग्ररूपसे है अर्थात् सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदिका भेद तो सम्प्रदायोंको लेकर है, वास्तवमें परमात्मा एक हैं। ये सगुण-निर्गुण आदि एक ही परमात्माके अलग-अलग विशेषण हैं, अलग-अलग नाम हैं।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(गीता ११। ५४)

‘हे शत्रुतापन अर्जुन! इस प्रकार (चतुर्भुजरूपवाला) मैं केवल अनन्यभक्तिसे ही तत्त्वसे जाननेमें

* तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ११)

‘उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन)-में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।’

और (साकाररूपसे) देखनेमें तथा प्रवेश (प्राप्त) करनेमें शक्य हूँ।’

जहाँ भगवान्ने ज्ञानकी परानिष्ठा बतायी है, वहाँ ज्ञानसे केवल जानना और प्रवेश करना—ये दो ही बताये हैं—‘ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्’ (गीता १८। ५५) परन्तु यहाँ भक्तिसे जानना, देखना और प्रवेश करना—ये तीनों बताये हैं। भक्तिसे भगवान्के दर्शन भी हो सकते हैं—यह भक्तिकी विशेषता है, जबकि ज्ञानकी परानिष्ठा होनेपर भी भगवान्के दर्शन नहीं होते। अतः भक्तिकी विशेष महिमा है। भक्तिमें समग्रकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मकी प्राप्तिमें जानना और प्रवेश करना—ये दो बातें हो सकती हैं, पर समग्रकी प्राप्तिमें जानना, प्रवेश करना और देखना—ये तीनों बातें होती हैं। कारण कि एकदेशीयमें एकदेशीयता होती है और समग्रमें समग्रता होती है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

(गीता १३। १६)

‘वे परमात्मा स्वयं विभागरहित होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंमें विभक्तकी तरह स्थित हैं और वे जाननेयोग्य परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले तथा उनका भरण-पोषण करनेवाले और संहार करनेवाले हैं।’

—इस श्लोकमें परमात्माके समग्ररूपका वर्णन हुआ है। जैसे संसार भौतिक दृष्टिसे एक है, ऐसे ही वास्तविक तत्त्व (परमात्मा) भी एक है, अविभक्त है। परन्तु जैसे संसार पांचभौतिक दृष्टिसे एक होते हुए भी अनेक वस्तुओं, व्यक्तियों (जड़-चेतन, स्थावर-जंगम) आदिके रूपमें दीखता है, ऐसे ही परमात्मा एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें दीखते हैं। तात्पर्य है कि परमात्मा एक होते हुए भी अनेक हैं और अनेक होते हुए भी एक हैं। वास्तविक सत्ता कभी दो हो सकती ही नहीं; क्योंकि दो होनेसे असत् आ जाता है।

उत्पन्न करनेवाले भी परमात्मा हैं और उत्पन्न होनेवाले भी परमात्मा हैं। भरण-पोषण करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका भरण-पोषण होता है, वे भी परमात्मा हैं। संहार करनेवाले भी परमात्मा हैं और जिनका संहार होता है, वे भी परमात्मा हैं—

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।

त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥

(श्रीमद्भा० ११। २८। ६)

‘जो कुछ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तु है, वह सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही हैं। जो कुछ सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसके निमित्त कारण भी वे ही हैं और उपादान कारण भी वे ही हैं अर्थात् वे ही विश्व बनाते हैं और वे ही विश्व बनते हैं। वे ही रक्षक हैं और वे ही रक्षित हैं। वे ही सर्वात्मा भगवान् इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह भी वे ही हैं।’

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥

(गीता १३। १८)

‘इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेयको संक्षेपसे कहा गया है। मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे भावको प्राप्त हो जाता है।’

यहाँ ‘मद्भक्त एतद्विज्ञाय’ पदोंका तात्पर्य है कि समग्र परमात्माका ज्ञान भक्तिसे ही हो सकता है*। अतः साधकको भक्त होना चाहिये।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४। २६)

‘जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह इन गुणोंका अतिक्रमण करके ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जाता है।’

भक्तिसे साधक जो भी चाहता है, उसीकी प्राप्ति हो जाती है। जो साधक मुख्यरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् मुक्ति, तत्त्वज्ञान चाहता है, उसको भक्ति करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि ब्रह्मकी प्रतिष्ठा भगवान् ही हैं—‘ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्’ (गीता १४। २७)। ब्रह्म समग्र भगवान्का ही एक अंग है, स्वरूप है—‘ते ब्रह्म तद्विदुः’ (गीता ७। २९)। भगवान्ने भक्तिको भी ज्ञानप्राप्तिका साधन बताया है—‘मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी’ (गीता १३। १०)।

श्रीमद्भागवतमें सगुणकी उपासनाको निर्गुण (गुणोंसे अतीत) बताया गया है; जैसे—‘मन्निकेतं तु निर्गुणम्’ (११। २५। २५), ‘मत्सेवायां तु निर्गुणा’ (११। २५। २७) आदि। इसलिये सगुणकी उपासना करनेवाला तीनों गुणोंसे अतीत हो जाता है। सगुण भगवान् भी गुणोंके आश्रित नहीं हैं, प्रत्युत गुण उनके आश्रित हैं। जो सत्त्व-रज-तम गुणोंके वशमें है, उसका नाम ‘सगुण’ नहीं है, प्रत्युत जिसमें असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि अनन्त दिव्य गुण नित्य विद्यमान रहते हैं, उसका नाम ‘सगुण’ है। भगवान्के द्वारा सात्त्विक, राजस अथवा तामस क्रियाएँ हो सकती हैं, पर वे उन गुणोंके वशमें नहीं होते।

भगवान्की तरफ चलनेसे भक्त स्वतः और सुगमतासे गुणातीत हो जाता है। इतना ही नहीं, उसको भगवान्के समग्ररूपका भी ज्ञान हो जाता है।

ज्ञानकी प्रधानता होनेपर साधक भगवान्के निर्गुण रूपको ही जानता है, पर भक्तिकी प्रधानता होनेपर साधक भगवान्के समग्र रूपको जानता है। जैसे बछड़ा गायके एक स्तनका पान करता है तो गायके चारों स्तनोंसे दूध टपकने लगता है, ऐसे ही भक्तका भगवान्की तरफ आकर्षण (प्रेम) होता है तो भगवान् कृपा करके अपने समग्ररूपको प्रकट कर देते हैं।

यो मामेवमसम्भूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

‘हे भरतवंशी अर्जुन! इस प्रकार जो मोहरहित मनुष्य मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ सब प्रकारसे मेरा ही भजन करता है।’

* प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)

क्षर और अक्षर—दोनों ही समग्र भगवान्‌के अंग हैं; अतः इनको जाननेवाला मनुष्य सर्ववित् (सर्वज्ञ) नहीं होता। जो क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम पुरुषोत्तमको जानता है, वही मनुष्य ‘सर्ववित्’ अर्थात् समग्रको जाननेवाला है। ऐसा सर्ववित् भक्त सब प्रकारसे भगवान्‌में ही लगा रहता है—‘सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते’ (गीता ६। ३१); क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई होता ही नहीं।

गीतामें ‘सर्ववित्’ शब्द केवल भक्तके लिये ही आया है। भक्त समग्रको अर्थात् लौकिक और अलौकिक दोनोंको जानता है, इसलिये वह सर्ववित् होता है। लौकिकके अन्तर्गत अलौकिक नहीं आ सकता, पर अलौकिकके अन्तर्गत लौकिक भी आ जाता है। अतः निर्गुण तत्त्व (अक्षर) को जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी सर्ववित् नहीं होता, प्रत्युत समग्र भगवान्‌को जाननेवाला भक्त सर्ववित् होता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५५)

‘पराभक्तिसे मुझे मैं जितना हूँ और जो हूँ—इसको तत्त्वसे जान लेता है, फिर मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।’

परमात्माके निर्गुण और सगुण स्वरूपको और राम, कृष्ण, शिव, गणेश, शक्ति, सूर्य आदि अनेक रूपोंमें प्रकट होकर परमात्मा लीला करते हैं, उनको भी जान लेना—यही पराभक्तिसे ‘यावान्’ अर्थात् समग्ररूपको जानना है।

‘यावान् यश्चास्मि’ ‘मैं जितना हूँ और जो हूँ’—यह बात सगुणकी ही है; क्योंकि ‘यावान्-तावान्’ निर्गुणमें हो सकता ही नहीं, प्रत्युत सगुणमें ही हो सकता है। चतुःश्लोकी भागवतमें भी भगवान्‌ने ‘यावान्’ पदका प्रयोग करते हुए ब्रह्माजीसे कहा है—

यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।

तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३१)

‘मैं जितना हूँ, जिस भाववाला हूँ, जिन रूप, गुण और कर्मोंवाला हूँ, उस मेरे (समग्ररूपके) तत्त्वका यथार्थ अनुभव तुम्हें मेरी कृपासे ज्यों-का-त्यों हो जाय।’

‘यावान् यश्चास्मि’ का वर्णन भगवान्‌ने गीतामें सातवें अध्यायके तीसवें श्लोकमें ‘साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः’ पदोंमें किया था। इससे सगुणकी विशेषता तथा मुख्यता सिद्ध होती है*।

ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको जब (ज्ञानोत्तरकालमें) भक्ति प्राप्त होती है तब उसमें तत्त्वसे जानना (ज्ञात्वा) और प्रविष्ट होना (विशते)—ये दो ही होते हैं, दर्शन नहीं होते। उनमें कोई कमी तो नहीं रहती, पर दर्शनकी इच्छा उनमें नहीं होती। परन्तु आरम्भसे ही भक्तिमार्गसे चलनेवालेको तत्त्वसे जानने (ज्ञातुम्) और प्रविष्ट होने (प्रवेष्टुम्)—के सिवाय भगवान्‌के दर्शन (द्रष्टुम्) भी होते हैं (गीता ११। ५४)। इसलिये ज्ञानमार्गी सन्तोंमें भगवत्प्रेम (भक्ति)—की बात तो आती है, पर दर्शनकी बात नहीं आती।

===:0:===

ग्यारहवाँ अध्याय

भगवान्‌के समग्ररूपका अर्थात् 'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव अनेक दृष्टियोंसे हो सकता है; जैसे—

(१) क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिका तो आदि और अन्त होता है, पर सत्ता निरन्तर ज्यों-की-त्यों रहती है। इसलिये मनुष्यमात्रको क्रिया, पदार्थ और व्यक्तिके अभावका तो अनुभव होता है, पर अपनी सत्ताके अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता। इस नित्य-निरन्तर रहनेवाली सत्ताका अनुभव होना विवेककी दृष्टिसे 'वासुदेवः सर्वम्' है।

(२) सृष्टिसे पहले भी केवल भगवान् थे और पीछे भी केवल भगवान् रहेंगे, फिर बीचमें भगवान्‌के सिवाय दूसरा कैसे आ सकता है?—यह युक्तिकी दृष्टिसे 'वासुदेवः सर्वम्' है।

(३) मेरे तो एक भगवान् ही हैं, भगवान्‌के सिवाय मेरा कोई है ही नहीं और कोई है तो होगा, हमें उससे क्या मतलब?—यह सीधे-सरल, विश्वासी भक्तोंकी दृष्टिसे 'वासुदेवः सर्वम्' है। जैसे, ब्रजमें एक साधु कुँएँपर किसीसे बातें कर रहा था कि ब्रह्म ऐसा होता है, जीव ऐसा होता है आदि-आदि। वहाँ जल भरनेके लिये आयी एक गोपीने ये बातें सुनीं तो उसने दूसरी गोपीसे पूछा—अरी वीर! ये ब्रह्म, जीव आदि क्या होते हैं? वह गोपी बोली कि ये हमारे लालाके ही कोई सगे-सम्बन्धी होंगे, तभी साधुलोग उनकी बात करते हैं, नहीं तो साधुओंको लालाके सिवाय औरसे क्या मतलब?

(४) जिसके भीतर भगवत्तत्त्वको जाननेकी व्याकुलता है, दिनमें भूख नहीं लगती, रातमें नींद नहीं आती, वह किसी सन्तसे सुनकर अथवा पुस्तकमें पढ़कर दृढ़तापूर्वक मान लेता है कि सब कुछ भगवान् ही हैं। भगवान् कैसे हैं—इसका तो पता नहीं, पर भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है—यह सन्तके वचनोंपर विश्वासकी दृष्टिसे 'वासुदेवः सर्वम्' है। सन्त-वचनपर प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास होनेपर फिर वैसा ही दीखने लग जाता है अर्थात् अनुभव हो जाता है।

====0:====

बारहवाँ अध्याय

चाहे अद्वैतवाद मानें, चाहे विशिष्टाद्वैतवाद मानें, चाहे द्वैतवाद मानें, चाहे द्वैताद्वैतवाद मानें, चाहे शुद्धाद्वैतवाद मानें, चाहे अचिन्त्य भेदाभेदवाद मानें, सबमें परमात्मा एक ही हैं। परमात्माको चाहे द्विभुजी मानें, चाहे चतुर्भुजी मानें, चाहे सहस्रभुजी (विराटरूप) मानें, चाहे साकार मानें, चाहे निराकार मानें, चाहे नराकार (राम, कृष्ण आदि) मानें, चाहे नीराकार (गंगाजी) मानें, चाहे निर्गुण मानें, चाहे सगुण मानें, परमात्मा तो एक ही हैं। वे एक ही परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। सब-के-सब रूप एक ही समग्र परमात्माके अंग हैं। किसी भी एक अंगको पकड़ लें तो समग्र परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। परमात्माके एक नामको ही पकड़ लें तो उसीसे समग्र परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी! हाथीकी पूँछ ही पकड़ लें तो भी हाथी पकड़में आ जायगा!

परमात्मा पूर्ण हैं। ऐसी कोई जगह नहीं है जहाँ परमात्मा न हों—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(गीता १३। १३)

‘वे परमात्मा सब जगह हाथों और पैरोंवाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखोंवाले तथा सब जगह कानोंवाले हैं। वे संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं।’

कलम और स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं है? जानकार आदमी उस एक ही कलम और स्याहीसे अनेक लिपियाँ लिख देता है। सोनेकी डलीमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? सुनार उस एक डलीमेंसे कड़ा, कण्ठी, हार, नथ आदि अनेक गहने निकाल लेता है। इसी तरह लोहेमें किस जगह कौन-सा अस्त्र-शस्त्र नहीं है? मिट्टी और पत्थरमें किस जगह कौन-सी मूर्ति नहीं है? ऐसे ही भगवान्में किस जगह क्या नहीं है? भगवान्से ही यह सब सृष्टि पैदा हुई है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाती है। पहले भी वही है, पीछे भी वही है, फिर बीचमें दूसरी चीज कैसे आये, कहाँसे आये? इस बातको दृढ़तासे स्वीकार कर लें तो फिर भगवान् दीखने लग जायँगे; क्योंकि वास्तवमें हैं ही वहीं!

जैसे, मिट्टीसे पैदा होनेवाली सब चीजें मिट्टी ही होती हैं। इसकी परीक्षा करनी हो तो लोहेकी एक परात लें। उसमें सूखी मिट्टी तौलकर डाल दें। फिर उसमें गेहूँ भी तौलकर बो दें और जल डालते रहें। कुछ दिनोंमें गेहूँके पौधे हो जायँगे। अब मिट्टीको (सर्वथा सूखनेके बाद) तौलकर देखें तो मिट्टी कम निकलेगी। परन्तु मिट्टीके साथ-साथ गेहूँके पौधोंको भी तौलें तो कुल वजन उतना ही निकलेगा, जितना पहले केवल मिट्टीका था। इससे यह सिद्ध हुआ कि जितनी मिट्टी कम हुई थी, उतनी पौधोंके रूपमें परिणत हो गयी। अतः गेहूँके पौधे मिट्टी ही हुए! गेहूँको खा लें अथवा पीस दें तो वे मिट्टी ही हो जायँगे। ऐसे ही हमारे शरीर भी मिट्टीके ही बने हुए हैं और अन्तमें मिट्टीमें ही मिल जायँगे। इसी तरह यह सब संसार परमात्मासे ही बना हुआ है। अतः कोई-सा भी रूप दीखे, वह परमात्मा ही है—ऐसा दृढ़तापूर्वक मान लें तो असली ज्ञान हो जायगा। कितना सुगम और सरल साधन है!

====0:====

तेरहवाँ अध्याय

सब कुछ भगवान् ही हैं—इस बातको कोई जानना चाहे तो वह एकान्तमें बैठ जाय और यह प्रार्थना शुरू कर दे कि हे नाथ! मैं आपको कैसे जानूँ—‘कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्’ (गीता १०। १७)! सब कुछ आप ही हैं—इसको मैं कैसे जानूँ! कैसे जानूँ! कैसे जानूँ! इस तरह भीतरसे लगन लगा दे। एक कहानी है। एक बहुत दरिद्र आदमी था। वह एक महात्माके पास गया और बोला कि ‘महाराज! मेरेपर बहुत कर्जा है। खाने-पीनेकी, रहनेकी, कपड़ेकी बहुत तंगी है। ऐसी कृपा करो कि कर्जा उतर जाय।’ महात्माने पूछा कि ‘तेरे घरमें बड़ी चीज क्या है?’ वह बोला कि ‘एक स्नान करनेकी बड़ी शिला है, जिसपर बैठकर मैं स्नान किया करता हूँ। उससे बड़ी और कोई चीज नहीं है।’ महात्मा बोले कि ‘तू अभी जाकर बैठ जा और कहना शुरू कर दे कि यह शिला सोनेकी हो जाय.....शिला सोनेकी हो जाय.....शिला सोनेकी हो जाय.....शिला सोनेकी हो जाय! इतना सोना तो काफी है न?’ वह बोला कि ‘महाराज! कर्जा तो उसके एक टुकड़ेसे ही उतर जायगा!’ महात्मा बोले कि ‘अब तू जा और चौबीस घण्टेतक इस बातकी धुन लगा दे।’ वह आदमी घर गया और ‘शिला सोनेकी हो जाय’—ऐसा कहना शुरू कर दिया। ऐसा

कहते-कहते तेईस घण्टे बीत गये तो उसने देखा कि अभी शिलाका एक टुकड़ा भी सोनेका नहीं हुआ। फिर भी वह कहता गया। चौबीस घण्टे पूरा होनेमें पाँच-दस मिनट रह गये, तब भी शिला नहीं बदली। पर वह कहता गया। जब एक मिनट बाकी रहा, तब वह कहते-कहते उकता गया और बोला कि सोनेकी नहीं तो लोहेकी ही हो जाय! उसके ऐसा कहते ही चट वह शिला लोहेकी हो गयी! उसने महात्माके पास जाकर कहा कि 'महाराज! वह शिला तो लोहेकी हो गयी! वह या तो पत्थरकी ही रहती या सोनेकी हो जाती, लोहेकी कैसे हो गयी?' महात्माने कहा कि 'तूने कहा होगा, तभी वह लोहेकी हो गयी। तू उकता गया, इसलिये तेरे कहनेसे वह लोहेकी हो गयी। अगर तू उकताता नहीं और 'शिला सोनेकी हो जाय'—यह कहता रहता तो वह सोनेकी ही हो जाती; क्योंकि वही समय कहनेका था।'

इस तरह साधकको चाहिये कि वह उकताए नहीं और आठों पहर भगवान्‌के पीछे पड़ जाय कि 'मैं आपको कैसे जानूँ!' 'हे नाथ! मैं आपको जान जाऊँ!' ऐसी प्रार्थना सभी कर सकते हैं; क्योंकि भगवान्‌के अंश होनेसे सबका भगवान्‌पर अधिकार है। भूख तंग करे तो रोटी खा ले, प्यास तंग करे तो जल पी ले, नींद तंग करे तो सो जाय, पर अपनी लगन नहीं छोड़े। मन लगे चाहे न लगे, ध्यान लगे चाहे न लगे, पर प्रार्थना नहीं छोड़े। भगवान्‌ बड़े दयालु हैं, प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९)। दया करके वे अपने-आपको जना देंगे। शिला तो सोनेकी बनती है, है नहीं; पर संसार भगवत्स्वरूप बनता नहीं, वह तो भगवत्स्वरूप ही है। केवल अपनी धारणा बदलती है। इसलिये गोपियाँ भगवान्‌से प्रार्थना करती हैं—'दयित दृश्यताम्' (श्रीमद्भा १०। ३१। १) 'प्यारे! आप दीख जाओ!' तो भगवान्‌ दीख गये, उनके बीचमें ही प्रकट हो गये—'तासामाविरभूच्छौरिः' (श्रीमद्भा० १०। ३२। २)। इससे सुगम साधन और क्या होगा?

====0:====

चौदहवाँ अध्याय

(समग्र भगवान् श्रीकृष्ण)

[श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार श्रीकृष्ण ही 'समग्र' परमात्मा हैं। परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजने गीताकी टीका 'साधक-संजीवनी' के अनेक स्थलोंपर भगवान् श्रीकृष्णका समग्र परमात्माके रूपमें वर्णन किया है। उनमेंसे कुछ संकलित विषय यहाँ दिये जा रहे हैं।]

गीता समग्रकी वाणी है, इसलिये गीतामें सब कुछ है। जो जिस दृष्टिसे गीताको देखता है, गीता उसको वैसी ही दीखने लगती है—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४। ११)।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण एक योगी थे, ईश्वर नहीं थे। योगके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि (योगदर्शन २। २९)। इनमें सबसे पहले 'यम' आता है। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (योगदर्शन २। ३०)। अतः जो योगी होगा, वह 'यम' का पालन अवश्य करेगा अर्थात् वह सत्य ही बोलेगा। अगर वह असत्य बोलता है तो वह योगी नहीं हो सकता; क्योंकि उसने योगके पहले अंग (यम) का ही पालन नहीं किया! गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने जगह-जगह अपनेको ईश्वर कहा

है*। अतः अगर वे योगी हैं तो वे सत्य बोलते हैं और अगर वे सत्य बोलते हैं तो वे समग्र ईश्वर हैं—यह मानना ही पड़ेगा।

‘मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा’ (गीता ३। ३०) ‘तू विवेकवती बुद्धिके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मेरे अर्पण कर’—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि क्रिया और पदार्थको अपने और अपने लिये न मानकर मेरे और मेरे लिये ही मान। कारण कि भगवान् समग्र हैं और सम्पूर्ण कर्म तथा पदार्थ (अधिभूत) समग्र भगवान्के ही अन्तर्गत हैं (गीता ७। २९-३०)। उस समग्र भगवान्के लिये ही यहाँ ‘मयि’ पद आया है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६। ४७)

‘सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मनसे मेरा भजन करता है, वह मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी है।’

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, हठयोगी, लययोगी, राजयोगी आदि जितने भी योगी हो सकते हैं, उन सब योगियोंमें भगवान्का भक्त सर्वश्रेष्ठ है। अपने भक्तके विषयमें ऐसी बात भगवान्ने और जगह भी कही है; जैसे—‘ते मे युक्ततमा मताः’ (गीता १२। २); ‘भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः’ (गीता १२। २०); ‘स योगी परमो मतः’ (गीता ६। ३२)।

परमात्मप्राप्तिके सभी साधनोंमें भक्ति मुख्य है। इतना ही नहीं सभी साधनोंका अन्त भक्तिमें ही होता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि तो साधन हैं, पर भक्ति साध्य है। भक्ति इतनी व्यापक है कि वह प्रत्येक साधनके आदिमें भी है और अन्तमें भी है। भक्ति प्रत्येक साधनके आरम्भमें पारमार्थिक आकर्षणके रूपमें रहती है; क्योंकि परमात्मामें आकर्षण हुए बिना कोई मनुष्य साधनमें लग ही नहीं सकता। साधनके अन्तमें भक्ति प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके रूपमें रहती है—‘मद्भक्तिं लभते पराम्’ (गीता १८। ५४)। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा भगवद्भक्ति-विषयक धर्मको श्रेष्ठ बताया गया है—‘अतस्त्विन्द्रियायो लिङ्गाच्च’ (३। ४। ३९)।

प्रस्तुत श्लोकसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और उनकी भक्ति अलौकिक है! उस भक्तिकी प्राप्तिमें ही मानवजीवनकी पूर्णता है।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(गीता ७। ३०)

‘जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।’

अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित भगवान्को जाननेका तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्णके

* ‘भूतानामीश्वरोपि सन्’ (गीता ४। ६); ‘सर्वलोकमहेश्वरम्’ (गीता ५। २९); ‘मत्तः परतरं नान्यकिञ्चिदस्ति’ (गीता ७। ७); ‘मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना’ (गीता ९। ४); ‘यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्’ (गीता १०। ३); ‘सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः’ (गीता १५। १५); आदि-आदि।

शरीरके किसी एक अंशमें विराटरूप है और उस विराटरूपमें अधिभूत (अनन्त ब्रह्माण्ड), अधिदैव (ब्रह्माजी) और अधियज्ञ (विष्णु) आदि सभी हैं, जैसा कि अर्जुनने कहा है—हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण प्राणियोंको; जिनकी नाभिसे कमल निकला है, उन विष्णुको, कमलपर विराजमान ब्रह्माको और शंकर आदिको देख रहा हूँ—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥

(गीता ११। १५)

अतः तत्त्वसे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण ही समग्र भगवान् हैं।

भगवान्ने गीताके सातवें अध्यायके अन्तमें समग्ररूप-वर्णनके आदि और अन्तमें 'माम्' पद दिया है, जो समग्रका वाचक है— 'मामाश्रित्य' (७। २९) और 'मां ते विदुः' (७। ३०)।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥

(गीता ८। ४)

'हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! क्षर भाव अर्थात् नाशवान् पदार्थ अधिभूत हैं, पुरुष अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा अधिदैव हैं और इस देहमें (अन्तर्यामी-रूपसे) मैं ही अधियज्ञ हूँ।'

ज्ञानमें ब्रह्मके साथ एकता होती है और प्रेममें अन्तर्यामी भगवान्के साथ अभिन्नता होती है। भगवान्ने यहाँ अन्तर्यामी (अधियज्ञ)-को अपना स्वरूप बताया है। अतः ब्रह्म तो विशेषण है और अन्तर्यामी विशेष्य है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' (गीता १४। २७)। तात्पर्य है कि जिसको गीताने 'समग्र' कहा है, वह सबका रचयिता और नियन्ता अन्तर्यामी मैं ही हूँ। इसी अन्तर्यामीको चौदहवें अध्यायके तीसरे-चौथे श्लोकोंमें 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्' और 'अहं बीजप्रदः पिता' पदोंमें 'अहम्' शब्दसे कहा गया है। गीतामें ब्रह्मके लिये कहा है—'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३। १२) और समग्र भगवान्के लिये कहा है—'सदसच्चाहम्' (९। १९), 'सदसत्तत्परं यत्' (११। ३७)।

'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' (गीता ८। १६) 'हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता'—यहाँ 'मामुपेत्य' में 'माम्' पद समग्र परमात्माका वाचक है, जो परा और अपरा—दोनोंका मालिक है।

गीतामें आठवें अध्यायके आठवेंसे सोलहवें श्लोकतकके नौ श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वोपरि पूर्ण परमात्मा हैं। वे ही समग्र परमात्मा हैं। उनके अन्तर्गत ही सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकार आ जाते हैं। अतः इनका प्रेम प्राप्त करना ही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

(गीता ९। ९)

‘हे धनंजय! उन सृष्टि-रचना आदि कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनकी तरह रहते हुए मुझे वे कर्म नहीं बाँधते।’

‘कर्मोंसे मनुष्य बँधता है’ (कर्मणा बध्यते जन्तुः) — इस सांसारिक दृष्टिसे ही भगवान् कहते हैं कि मैं कर्मोंसे नहीं बँधता (गीता ४। १४); क्योंकि मेरेमें न कर्मासक्ति है, न फलासक्ति है और न कर्तृत्व है। परन्तु तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो कर्मोंकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं! सृष्टि-रचना-रूप कर्म भगवान्का ही स्वरूप है—‘ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्’ (गीता ७। २९), ‘भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः’ (गीता ८। ३)। तात्पर्य है कि सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि जो कुछ हो रहा है, वह सब भगवान्के द्वारा ही हो रहा है तथा भगवान्का ही स्वरूप है। उत्पन्न करनेवाला तथा उत्पन्न होनेवाला, पालन करनेवाला तथा पालित होनेवाला, नाश करनेवाला तथा नष्ट होनेवाला—ये सब एक ही समग्र भगवान्के अंग (स्वरूप) हैं—‘अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा’ (गीता ७। ६)।

सब कुछ भगवान् ही हैं, दूसरा कोई है ही नहीं, फिर भगवान् किससे उदासीन हों? इसलिये भगवान्ने अपनेको ‘उदासीनवत्’ अर्थात् उदासीनकी तरह कहा है।

गीतामें भगवान् कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९। ११)

‘मूर्खलोग मेरे सम्पूर्ण प्राणियोंके महान् ईश्वररूप श्रेष्ठभावको न जानते हुए मुझे मनुष्यशरीरके आश्रित मानकर अर्थात् साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं।’

—इस श्लोकमें भगवान्के प्रभावका विशेष वर्णन हुआ है। भगवान्से बड़ा कोई ईश्वर नहीं है। वे सर्वोपरि हैं। परन्तु अज्ञानी मनुष्य उनको स्वरूपसे नहीं जानते। वे अलौकिक भगवान्को भी अपनी तरह लौकिक समझते हैं।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

(गीता १०। १२)

‘अर्जुन कहते हैं—परम ब्रह्म, परम धाम और महान् पवित्र आप ही हैं। आप शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापक हैं।’

निर्गुण-निराकारके लिये ‘परं ब्रह्म’, सगुण-निराकारके लिये ‘परं धाम’ और सगुण-साकारके लिये ‘पवित्रं परमं भवान्’ पदोंका प्रयोग करके अर्जुन भगवान्से मानो यह कहते हैं कि समग्र परमात्मा आप ही हैं।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥

(गीता १०। १७)

‘हे योगिन्! निरन्तर सांगोपांग चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ? और हे भगवन्! किन-किन भावोंमें आप मेरे द्वारा चिन्तन किये जा सकते हैं अर्थात् किन-किन भावोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ?’

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको तो जानते थे, पर उनके समग्ररूपको नहीं जानते थे। उनमें भगवान्‌के समग्ररूपको जाननेकी जिज्ञासा थी। इसलिये वे पूछते हैं कि मैं आपके समग्ररूपको कैसे जानूँ? किन रूपोंमें मैं आपका चिन्तन करूँ? इससे सिद्ध होता है कि विभूतियाँ गौण नहीं हैं, प्रत्युत भगवत्प्राप्तिका माध्यम होनेसे मुख्य हैं। विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। जबतक मनुष्य भगवान्‌को नहीं जानता, तबतक उसमें गौण अथवा मुख्यकी भावना रहती है। भगवान्‌को जाननेपर गौण अथवा मुख्यकी भावना नहीं रहती; क्योंकि भगवान्‌के सिवाय कुछ है ही नहीं, फिर उसमें क्या गौण और क्या मुख्य? तात्पर्य है कि गौण अथवा मुख्य साधककी दृष्टिमें है, भगवान् और सिद्धकी दृष्टिमें नहीं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(गीता १०। २०)

‘हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ और सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तःकरण (हृदय)–में स्थित आत्मा भी मैं ही हूँ।’

सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें भगवान् ही हैं—इसका तात्पर्य यह है कि एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं अर्थात् सब कुछ भगवान् ही हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और आत्मा उनकी विभूति है—‘अहमात्मा गुडाकेश’। आत्मा भगवान्‌की ‘परा प्रकृति’ है और अन्तःकरण ‘अपरा प्रकृति’ है। परा और अपरा—दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं।

गीतामें भगवान्‌ने कारणरूपसे सत्रह विभूतियाँ (७। ८-१२), कार्य-कारणरूपसे सैंतीस विभूतियाँ (९। १६-१९), भावरूपसे बीस विभूतियाँ (१०। ४-५), व्यक्तिरूपसे पचीस विभूतियाँ (१०। ६), मुख्यरूपसे तथा अधिपतिरूपसे इक्यासी विभूतियाँ (१०। २०-३८), साररूपसे एक विभूति (१०। ३९) और प्रभावरूपसे तेरह विभूतियाँ (१५। १२-१५) बतायी हैं। इन सबका तात्पर्य यही है कि एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है। सब रूपोंमें एक भगवान्-ही-भगवान् हैं। सब भगवान्‌का ही समग्ररूप है। असत् परिवर्तनशील है और सत् अपरिवर्तनशील है। ये सत् (परा) और असत् (अपरा)—दोनों ही भगवान्‌की विभूतियाँ हैं—‘सदसच्चाहमर्जुन’ (गीता ९। १९)। तात्पर्य है कि विभूतिरूपसे साक्षात् भगवान् ही हैं। अतः जिसमें हमारा आकर्षण होता है, वह वास्तवमें भगवान्‌का ही आकर्षण है। परन्तु भोगबुद्धिके कारण वह आकर्षण भगवत्प्रेममें परिणत न होकर काम, आसक्तिमें परिणत हो जाता है, जो संसारमें बाँधनेवाला है।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मको भी ‘माम्’ (अपना स्वरूप) कहा है (गीता ८। १३), देवताओंको भी ‘माम्’ कहा है (गीता ९। २३), इन्द्रको भी ‘माम्’ कहा है (गीता ९। २०), उत्तम गतिको

भी 'माम्' कहा है (गीता ७। १८), क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा)-को भी 'माम्' कहा है (गीता १३। २), सबके शरीरमें रहनेवाले अन्तर्यामीको भी 'माम्' कहा है (गीता १६। १८), सम्पूर्ण प्राणियोंके बीजको भी 'माम्' कहा है (गीता ७। १०) आदि। तात्पर्य है कि सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार तथा मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, भूत, प्रेत, पिशाच आदि जो कुछ भी है, वह सब मिलकर भगवान् श्रीकृष्णका ही समग्ररूप है अर्थात् सब भगवान् श्रीकृष्णकी ही विभूतियाँ हैं, उनका ही ऐश्वर्य है। ये सब-की-सब विभूतियाँ अव्यय (अविनाशी) हैं।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।

मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥

(गीता ११। ७)

‘हे नींदको जीतनेवाले अर्जुन! मेरे इस शरीरके एक देशमें चराचर-सहित सम्पूर्ण जगत्को अभी देख ले। इसके सिवाय तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी देख ले।’

भगवान् अपने शरीरके एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् देखनेकी आज्ञा देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और उनके एक अंशमें सम्पूर्ण संसार है। ‘रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड’ (मानस, बाल० २०१)—यह भगवान् प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं! जब सम्पूर्ण संसार भगवान्के किसी एक अंशमें है, तो फिर भगवान्के सिवाय क्या बाकी रहा? सब कुछ भगवान् ही हुए! इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू जो कुछ भी देखना चाहता है, वह सब तू मेरे विराटरूपमें देख सकता है। अर्जुन युद्धका परिणाम देखना चाहते थे, जिसको उन्होंने विराटरूपमें ही देख लिया (गीता ११। २६-२७)।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं-

त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता

सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥

(गीता ११। १८)

‘आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर (अक्षरब्रह्म) हैं, आप ही इस सम्पूर्ण विश्वके परम आश्रय हैं, आप ही सनातनधर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं—ऐसा मैं मानता हूँ।’

यहाँ ‘त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्’ पदोंसे निर्गुण-निराकारकी बात आयी है, ‘त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्’ पदोंसे सगुण-निराकारकी बात आयी है और ‘त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता’ पदोंसे सगुण-साकारकी बात आयी है। तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार—ये सब मिलकर भगवान्का समग्ररूप है, जिसको जाननेपर फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता—‘यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते’ (गीता ७। २); क्योंकि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

द्विभुजरूप (कृष्ण), चतुर्भुजरूप (विष्णु) और सहस्रभुजरूप (विराटरूप)—तीनों एक ही समग्र भगवान्के रूप हैं।

सगुण (गुणसहित) और निर्गुण (गुणरहित)—दोनों विशेषणोंमें विशेष्य (तत्त्व) तो एक ही हुआ,

इसलिये भगवान्ने निर्गुणके उपासकोंको भी अपनी ही प्राप्ति बतायी है—‘ते प्राप्नुवन्ति मामेव’ (गीता १२। ४)। भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार रूप भी मेरा ही है, मेरे समग्ररूपसे अलग नहीं है।

भगवान्ने पन्द्रहवें अध्यायमें अपने-आपको पुरुषोत्तमरूपसे अर्थात् अलौकिक समग्ररूपसे प्रकट किया है, इसलिये इसको ‘गुह्यतम शास्त्र’ कहा गया है।

ममना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८। ६५)

‘तू मेरा भक्त हो जा, मुझमें मनवाला हो जा, मेरा पूजन करनेवाला हो जा और मुझे नमस्कार कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त हो जायगा—यह मैं तेरे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।’

अर्जुन भगवान्को प्राप्त ही हैं; अतः यहाँ ‘मामेवैष्यसि’ कहनेका तात्पर्य है कि तेरेको समग्र (‘माम्’)-की प्राप्ति हो जायगी, जिसके लिये भगवान्ने गीतामें सातवें अध्यायके आरम्भमें कहा था—‘असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु’। फिर तेरी मेरेसे आत्मीयता हो जायगी, जिसके लिये भगवान्ने सातवें अध्यायमें कहा था—‘ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्’ (गीता ७। १८) ‘ज्ञानी (प्रेमी) तो मेरा स्वरूप ही है’; ‘प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः’ ‘ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है’ (गीता ७। १७)।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४। २७)

‘ब्रह्मका और अविनाशी अमृतका तथा शाश्वत धर्मका और ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं ही हूँ।’

‘ब्रह्म तथा अविनाशी अमृतका आश्रय मैं हूँ’—यह निर्गुण-निराकारकी तथा ज्ञानयोगकी बात है, ‘शाश्वतधर्मका आश्रय मैं हूँ’—यह सगुण-साकारकी तथा कर्मयोगकी बात है और ‘ऐकान्तिक सुखका आश्रय मैं हूँ’—यह सगुण-निराकारकी तथा ध्यानयोगकी बात है। तात्पर्य यह हुआ कि मेरी (सगुण-साकारकी) उपासना करनेसे, मेरा आश्रय लेनेसे ज्ञानयोग, कर्मयोग और ध्यानयोग—तीनों सिद्ध हो जाते हैं। तीनोंसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है, जिसको ‘समग्र’ कहते हैं।

जितनी भी विभूतियाँ हैं, वे सब भगवान्के ऐश्वर्य हैं। ब्रह्म भी भगवान्की एक विभूति है, ऐश्वर्य है। वास्तवमें जीव और ब्रह्म—दोनों ही समग्र भगवान्के अंश हैं। इसलिये भगवान्ने अपनेको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (आधार) बताया है—‘ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्’ (१४। २७) और ब्रह्मको अपने ही समग्र रूपका एक अंग बताया है—‘ते ब्रह्म तद्विदुः’ (७। २९-३०)।

निर्गुण-निराकारके अनन्य उपासक मधुसूदनाचार्यजीको भी कहना पड़ा—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।

शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूवितेन॥

‘अद्वैतमार्गके अनुयायियोंद्वारा पूज्य तथा स्वाराज्यरूपी सिंहासनपर प्रतिष्ठित होनेका अधिकार प्राप्त किये हुए हमें गोपियोंके पीछे-पीछे फिरनेवाले किसी धूर्तने हठपूर्वक अपने चरणोंका गुलाम बना लिया!’

इसलिये उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि भगवान् श्रीकृष्ण (सगुण-साकार)-से परे कोई भी तत्त्व नहीं है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

(गीता मधुसूदनी १५, १८)

‘वंशीसे सुशोभित हाथोंवाले, नवीन मेघके समान कान्तिवाले, पीताम्बरधारी, बिम्बफलके समान लाल होंठोंवाले, पूर्णचन्द्रके समान सुन्दर मुखवाले तथा कमलके समान नेत्रोंवाले श्रीकृष्णसे बढ़कर मैं कोई और तत्त्व नहीं जानता।’

उद्धवजी निर्गुण-निराकार ब्रह्मको सबसे ऊँचा मानते थे, पर गोपियोंकी सगुण-भक्ति (श्रीकृष्णके प्रति प्रेम)-के सामने उनका अभिमान गल गया! पद्मपुराणमें आया है कि भगवान् श्रीकृष्णके ही नखकी एक किरण ‘ब्रह्म’ है—

यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम्॥

(पद्मपुराण, पाताल० ७७। ६०)

‘(भगवान् शंकर कहते हैं—) जिनके नखचन्द्रकी कान्तिरूप ब्रह्मका देवतागण ध्यान करते हैं, उन त्रिगुणातीत वृन्दावनेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।’

====0:====

पन्द्रहवाँ अध्याय

(हृदयोद्गार)

परमात्मा सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार आदि हैं—यह हमारा दृष्टिकोण है, परमात्मतत्त्व नहीं है। यदि हमने परमात्माको सगुण, निर्गुण आदि जान लिया तो फिर साधन करनेकी क्या जरूरत है? यदि साधन करनेकी जरूरत है तो हमने अभी उनको जाना नहीं है।

परमात्माके विषयमें हम जितनी कल्पना कर सकते हैं, परमात्मा उससे भी विलक्षण हैं! आज दिनतक शास्त्रोंमें, सन्तवाणीमें, वेद-पुराणादिमें परमात्माका जो वर्णन आया है, वह सब-का-सब मिलकर भी परमात्माका वर्णन नहीं हुआ! परन्तु उससे साधकको लाभ होता है अर्थात् जैसा वर्णन हुआ है, वैसा मानकर साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, तभी वह वर्णन उपयोगी है।

अगर शास्त्र आदिमें उस परमात्माका वर्णन हो गया तो वह परमात्मतत्त्व असीम, अनन्त, अपार

नहीं रहा! वर्णन करनेवाली इन्द्रियाँ नाशवान् हैं, फिर उनसे अविनाशीका वर्णन कैसे हो सकता है?

साधक पहले ही अपनी धारणा बना लेता है कि परमात्मा सगुण हैं या निर्गुण हैं, साकार हैं या निराकार हैं, द्वैत है या अद्वैत है, तो फिर उसे ऐसा ही दीखने लग जाता है। इस तरह धारणा बना लेनेसे तत्त्वबोध नहीं होता। सम्प्रदायोंमें अनुभव करनेवाले बहुत कम होते हैं, हाँ-में-हाँ मिलानेवाले अधिक होते हैं। जो सच्चा जिज्ञासु होता है, वह (अपने सम्प्रदायका सिद्धान्त मानते हुए भी) 'वास्तवमें तत्त्व क्या है?'—ऐसा विचार करता है तो उसे बोध हो सकता है।

साधक किसी भी सम्प्रदायमें हो, उसे अपने ही इष्टको सर्वोपरि मानना चाहिये और दूसरे रूपोंके प्रति यह भाव रखना चाहिये कि **रूप दूसरा है, तत्त्व दूसरा नहीं है**, अथवा उसे यह मानना चाहिये कि दूसरे सब रूप मेरे इष्टके ही उपासक हैं। तात्पर्य है कि दूसरे रूपोंको चाहे तत्त्वसे (अपने इष्टसे) अभिन्न माने, चाहे अपने इष्टका अनुयायी माने। वह ऐसा दृढ़ निश्चय रखे कि तत्त्वसे सब एक हैं। ऐसा दृढ़ निश्चय न कर सके तो उन्हें अनुयायीरूपसे मान ले। ऐसा भी विश्वास न बैठे तो 'सर्वत्र सत्तारूपसे एक परमात्मा हैं'—ऐसा मान ले। फिर सगुण या निर्गुणमें स्वतः निष्ठा हो जायगी।

परमात्मा सगुण, निर्गुण आदि सब हैं और उनसे विलक्षण भी हैं। परमात्मा सगुण हैं, निर्गुण नहीं हैं अथवा निर्गुण हैं, सगुण नहीं हैं—इनमें 'नहीं हैं'—इस अंशमें हम परमात्माको असमर्थ ही मानते हैं। हम अपनी समझ बता सकते हैं कि हमें परमात्माका अमुक रूप समझमें आता है, पर परमात्माका ठेका लेना कि वे ऐसे ही हैं, गलतीकी बात है!

साधकके लिये शास्त्र, सम्प्रदाय आदिका आग्रह महान् बाधक है। गीतामें भी इसको 'मोहकलिल' और 'श्रुतिविप्रतिपत्ति' कहा है (गीता २। ५२-५३)। द्वैत, अद्वैत आदि जो मत-मतान्तर हैं, उनमें विधि-अंश माने, निषेध-अंश न माने। परमात्मा सगुण हैं, निर्गुण नहीं हैं—यह भूल है, गलती है। खुद जो कुछ मानो, पर दूसरेका निषेध करना, निन्दा करना बहुत ज्यादा बाधक है। इससे निर्गुण रूपके साथ घृणा होगी, निर्गुण माननेवालोंके साथ द्वेष होगा, फिर राग-द्वेषके रहते साधक परमात्माको कैसे प्राप्त होगा?

हम तो सगुणको मानते हैं, निर्गुणको हम जानते नहीं, हमें तो सगुण प्रिय लगता है—यह तो ठीक है, पर निर्गुणकी निन्दा, खण्डन करना ठीक नहीं है। कारण कि ऐसा करनेसे हमने एक तो भगवान्को सर्वसमर्थ नहीं माना और दूसरा, निर्गुण (दूसरे मत)-की साधना करनेवालेको ठेस पहुँचायी, जो अपराध है!

भक्तिमें भी यदि सगुणका, साकारका आग्रह रहेगा तो समग्रकी प्राप्ति नहीं होगी। अपने मतका आग्रह, पक्षपात नहीं रहेगा तो समग्रकी प्राप्ति सुगमतासे हो जायगी।

निर्गुणकी उपासना करनेवाला सगुणोपासकोंकी निन्दा, खण्डन करेगा तो उनके हृदयको ठेस पहुँचेगी—यह 'भागवत अपराध' है। भागवत अपराधका अर्थ है—भक्तका अपराध। जो निषिद्ध आचरणमें लगे हैं, उनकी निन्दा तो ठीक है, पर जो विहितमें लगे हैं, उनकी निन्दासे अपनी ही हानि होती है।

भक्त कोई निषिद्ध आचरण नहीं करता। वह किसीको भी माने, पर लगा तो भगवान्‌में ही है। अतः उसके प्रति भागवत अपराध करनेसे उसका तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, बाधा अपनेको ही लगेगी। उसकी उपासनामें बाधा लगानेमें हम निमित्त बनेंगे तो इससे हमारी ही उपासनामें बाधा लगेगी।

हम दूसरे मतका खण्डन करते हैं तो इससे अपना मत ही कमजोर सिद्ध होता है; क्योंकि हमने 'दूसरेके मतमें अपना मत नहीं है'—यह स्वीकार कर लिया। निराकारका खण्डन करनेसे साकार कमजोर सिद्ध होता है कि हमारा साकार निराकार नहीं है। दो पक्ष एक-दूसरेका खण्डन करते हैं, दूसरे मतको अथवा इष्टको कमजोर बताते हैं तो वास्तवमें दोनोंके इष्ट कमजोर नहीं हैं, प्रत्युत वे दोनों खुद कमजोर हैं!

वास्तवमें दूसरी सत्ता बाधक नहीं है, प्रत्युत जड़ पदार्थोंमें आसक्ति बाधक है। भक्तिमें भेदबुद्धि तभी बाधक होगी, जब आसक्ति हो, जबकि भक्तिमें प्रेम होता है, आसक्ति नहीं होती। प्रेम आसक्तिको मिटाता है। अतः द्वैत अथवा अद्वैत बाधक नहीं है, प्रत्युत आसक्ति बाधक है। भक्तिमें भी अद्वैत बाधक नहीं है, आसक्ति बाधक है। अतः द्वैत-अद्वैतमें कोई विरोध नहीं है।

गीतामें सगुणकी मुख्यता है; सगुणका ही एक अंग निर्गुण है—यह भाव मुझे किसी संगसे अथवा किसी पुस्तकसे नहीं मिला है, प्रत्युत गीता पढ़ते-पढ़ते, गीतासे ही यह भाव मिला है। विचार करें तो कई युक्तियोंसे सगुणकी मुख्यता सिद्ध होती है।

सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दाका) निर्गुणको मुख्य मानते थे। पर उन्होंने भी एक बार मेरेसे एकान्तमें कहा कि परमात्मामें एक शक्ति माननी ही पड़ेगी, माने बिना काम नहीं चलता। जिससे सृष्टिमात्रका संचालन होता है, उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होता है, ऐसी एक शक्ति परमात्मामें माननी ही पड़ेगी। यदि परमात्मामें कोई शक्ति स्वीकार न करें तो सृष्टि-रचना आदि कार्य सिद्ध नहीं होंगे! यदि शक्तिको स्वीकार करेंगे तो सगुणकी मुख्यता हो जायगी।

भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) कहते थे कि शांकर-सिद्धान्तकी अपेक्षा रामानुज-सिद्धान्त ठीक जँचता है। इससे सगुणकी मुख्यता सिद्ध होती है।

श्रीसेवाराजजी महाराज निर्गुण-निराकारके पक्षपाती थे। मुझे उनकी बात जँचती नहीं थी। वे कहते थे कि इतने बड़े ग्रन्थ 'योगवासिष्ठ' में निर्गुण-निराकारका ही वर्णन हुआ है। इसपर सेठजीने कहा कि योगवासिष्ठके रचनाकार या तो सगुणको जानते नहीं थे, या उन्होंने जान-बूझकर सगुणका वर्णन नहीं किया।

श्रीशरणानन्दजी महाराज क्रान्तिकारी साधु थे। उनमें यह क्रान्तिकारी विलक्षणता ईश्वरकी शरणागतिसे ही आयी थी। अतः सगुणकी मुख्यता माननी पड़ेगी, नहीं तो उनमें विलक्षणता कहाँसे आयी?

'यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो.....त्रैलोक्यनाथो हरिः'—इस श्लोकमें भी ब्रह्मको सगुण हरिका ही एक रूप बताया है। 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥' (मानस, अरण्य० ३६। ५)—इसमें भी सगुणकी ही मुख्यता मालूम देती है। गीतामें भी भगवान्‌ने सगुणोपासकोंको श्रेष्ठ बताया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

(गीता १२। २)

‘मुझमें मनको लगाकर नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धासे युक्त होकर मेरी (सगुण-साकारकी) उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।’

गीताने सगुणको समग्र माना है। सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। अतः सगुण समग्ररूप है। सगुणका एक अंश निर्गुण है। निर्गुणका अंश सगुण कैसे हो सकता है? सगुणकी मुख्यतामें तो निर्गुण आ जायगा, पर निर्गुणकी मुख्यतामें सगुण कैसे आयेगा? अतः सगुणकी मुख्यता माननी पड़ेगी।

जिसमें सभी गुण रहते हैं, वही निर्गुण हो सकता है और जो निर्गुण होता है, उसीमें सभी गुण रहते हैं। सब गुण होते हुए भी गुणोंसे निर्लिप्त रहनेके कारण वह निर्गुण कहलाता है। जैसे, राजा जनक विदेह होते हुए भी राज्यके सब कार्य करते थे।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

(गीता ७। २९-३०)

‘वृद्धावस्था और मृत्युसे मुक्ति पानेके लिये जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको और सम्पूर्ण कर्मको जान जाते हैं। जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैवके सहित और अधियज्ञके सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्तवाले मनुष्य अन्तकालमें भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।’

—इसमें दो विभाग हैं। एक विभाग निर्गुणका है—ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म। एक विभाग सगुणका है—अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ। दोनों विभागोंको ‘ते विदुः’ और ‘ये विदुः’ पदोंसे अलग-अलग बताया गया है। दोनों मिलाकर समग्ररूप है। परन्तु दोनोंका साधन एक ही बताया है—‘ममाश्रित्य यतन्ति ये’।

सगुण-निर्गुण दोनों मिलाकर समग्र होनेसे सगुणोपासना और निर्गुणोपासना—दोनों ही उपासनाएँ ठीक हैं। जैसे हाथीकी पूँछ ही पकड़ लें तो भी हाथी पकड़में आ जायगा! ऐसे ही समग्रके किसी एक अंशको पकड़ लें तो समग्रकी प्राप्ति हो जायगी। जैसे, नामको पकड़ लें तो उसीसे (नामजपसे ही) प्राप्ति हो जायगी। ब्रह्मको, रामको, कृष्णको, सूर्यको, देवीको, किसीको भी मान लें तो उद्धार हो जायगा। कारण कि समग्रका एक अंश भी पूर्ण परमात्मा है। जैसे जो शरीरस्थ हो गया, वह प्रकृतिस्थ भी हो गया, ऐसे ही जो भगवान्‌के किसी एक रूपमें स्थित हो गया, वह परमात्मामें स्थित हो गया। समग्रमें कोई वाद-विवाद नहीं रहता। सब एक हो जाते हैं।

विष्णुका ध्यान करते हुए शिवका ध्यान हो तो ‘भगवान् अपनी मरजीसे शिवरूपसे आये हैं’—ऐसा मानकर प्रसन्न हो जाय। संसार भी याद आ जाय तो ऐसा माने कि उस रूपसे भगवान् ही आये हैं अथवा उनमें उसीकी सत्ता है।

चाहे और जगहसे मनको हटाकर इष्टमें लगाये, चाहे जो ध्यानमें आये, उसको इष्टका ही रूप माने। तात्पर्य है—‘तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्’ (श्रीमद्भा० ७। १। ३१) ‘चाहे जैसे हो, अपना मन भगवान् श्रीकृष्णमें तन्मय कर देना चाहिये।’

निर्गुण-निराकार ब्रह्म भी समग्रका ऐश्वर्य है और जगत् (कर्म और अधिभूत) भी समग्रका ऐश्वर्य है। भक्त ऐश्वर्यसे प्रेम नहीं करता, प्रत्युत ऐश्वर्यवालेसे प्रेम करता है। उसमें ऐश्वर्यकी परवाह नहीं होती।

संसारमें नये-नये आविष्कार होते हैं। इन सब भौतिक आविष्कारोंसे लोग बड़े आश्चर्यचकित होते हैं। पर ये सारे भौतिक आविष्कार भी समग्रके ही एक अंश ‘अधिभूत’ के हैं।

जैसे गौर या कृष्णवर्णको शरीरसे अलग नहीं कर सकते, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओंको शरीरसे अलग करके नहीं दिखा सकते, स्वभावको अलग नहीं बता सकते, ऐसे ही शक्तिको शक्तिमानसे अलग नहीं कर सकते, जड़ संसारको परमात्मासे अलग नहीं कर सकते। अतः वास्तवमें परमात्माका स्वरूप समग्र ही है।

गीता समग्रको मानती है। समग्रमें भगवान् श्रीकृष्णकी ही मुख्यता है। इसलिये गीतामें जहाँ-जहाँ श्रीकृष्णका वर्णन है, वहाँ-वहाँ समग्रका वर्णन है। ‘असंशयं समग्रं माम्’ (गीता ७। १); ‘ते ब्रह्म तद्विदुः०’ (गीता ७। २९-३०); ‘विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्’ (गीता १०। ४२) ‘मैं अपने किसी एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे किसी एक अंशमें स्थित हूँ।’—इस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको समग्र कहा है। अतः हम पक्षपात नहीं करते, प्रत्युत भगवान्की हाँ-में-हाँ मिलाते हैं!

मुझे आश्चर्य आता है कि मेरेमें भक्ति (प्रेम) भी है और ज्ञान भी है। दोनोंमें मुझे कोई विरोध नहीं दीखता। मुझे द्वैत और अद्वैतमें कोई बाधा दीखती ही नहीं।

मैं विवेचन तो ज्ञानका करता हूँ, पर मनमें खिंचाव भक्तिका, प्रेमका है। जब सगुणमें मन लगता है, तब निर्गुण (सर्वत्र परिपूर्ण एक सत्-तत्त्व) ठीक समझमें आता है और जब निर्गुणमें मन लगता है, तब सगुण ठीक समझमें आता है।

मैं ज्ञानकी बात कहता हूँ तो प्रेम प्रकट होता है और प्रेमकी बात कहता हूँ तो बोध प्रकट होता है! ज्ञान और प्रेम—दोनोंमें मुझे फर्क दीखता ही नहीं। उपेक्षा, तिरस्कार करनेसे वास्तविक तत्त्वकी प्राप्तिमें बाधा लगती है। यदि भक्तिमार्गी ज्ञानमार्गीका तिरस्कार करे तो भक्तिकी सिद्धिमें बाधा लग जायगी। ऐसे ही ज्ञानमार्गी भक्तिमार्गीका तिरस्कार, उपेक्षा, निन्दा करे तो ज्ञानकी सिद्धिमें बाधा लग जायगी। यह बाधा गीता हटा देती है।

मुझे शुरूसे ही भगवान्के साकार, निराकार सब रूप अच्छे लगते थे। मैंने पढ़ाई तो निर्गुणकी

की, पर भगवान्की ऐसी कृपा थी कि उसमें सन्तोष नहीं होता था। वास्तवमें ठीक यही है कि सब कुछ एक परमात्मतत्त्व ही है—‘वासुदेवः सर्वम्’ (गीता ७। १९)। राग ही उसमें भेद-बुद्धि पैदा करता है। राग-बुद्धिके कारण ‘सब जगह परमात्मा हैं’ यह अनुभव नहीं होता।

ऊँचा-नीचा, श्रेष्ठ-निकृष्ट रूप माननेसे राग-द्वेष मिटते नहीं। अतः निर्गुण ही ऊँचा है, सगुण नीचा है—यह कोई आग्रह न रहे। निर्गुण अच्छा लगता हो तो निर्गुणकी उपासना करो, पर सगुणका खण्डन करोगे तो यह निर्गुणोपासकके लिये घातक होगा। कोई छोटा-बड़ा नहीं है। अपना राग-द्वेष ही गलती है। राग-द्वेष मिटनेपर सब परमात्मा-ही-परमात्मा हैं।

हम सगुणकी जितनी बातें कहें, पर निर्गुण-निराकारको माननेवालोंपर कोई असर नहीं होगा! कोई विचारशील जिज्ञासु ही हमारी बातको स्वीकार कर सकेगा। मैंने देखा है कि अपनी बातका आग्रह रखनेवाला दूसरेकी बात सुन ही नहीं सकता। उसके भीतर एक (अपनी बातकी) परतन्त्रता रहती है। जबतक अपने भीतर अपनी बातकी पकड़ रहती है, तबतक ठीक बोध नहीं होता। भगवत्कृपासे आरम्भसे ही मेरा स्वभाव है कि अपनी बातका आग्रह छोड़कर ही दूसरेकी बात सुनता हूँ।

मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं—इससे सुगमतापूर्वक समग्रकी प्राप्ति हो जाती है।



अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० २। ९। ३२)

‘सृष्टिके पूर्व भी मैं ही था, मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं था और सृष्टिके उत्पन्न होनेके बाद जो कुछ भी यह दृश्यवर्ग है, वह मैं ही हूँ, जो सत्, असत् और उससे परे है, वह सब मैं ही हूँ तथा सृष्टिके बाद भी मैं ही हूँ एवं इन सबका नाश हो जानेपर जो कुछ बाकी रहता है, वह भी मैं ही हूँ।’

x

x

x

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११। १३। २४)

‘मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आपलोग विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार कर लें।’

परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजकी वाणीपर आधारित
'गीता प्रकाशन' का शीघ्र कल्याणकारी साहित्य

१. संजीवनी-सुधा—'गीता साधक-संजीवनी' पर आधारित शोधपूर्ण पुस्तक।
२. सीमाके भीतर असीम प्रकाश—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
३. बिन्दुमें सिन्धु—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
४. नये रास्ते, नयी दिशाएँ—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
५. अनन्तकी ओर—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
६. स्वातिकी बूँदें—मार्मिक प्रवचनोंका सार-संग्रह।
७. अनुभव-वाणी—चुने हुए अनमोल वचन। अँग्रेजी-भाषान्तरसहित।
८. सहज गीता (अँग्रेजीमें भी)—नये पाठकोंके लिये 'साधक-संजीवनी' के अनुसार गीताका सरल हिन्दीमें भावार्थ।
९. हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं (गुजराती व अँग्रेजीमें भी)—इस प्रार्थनाके रहस्य तथा महत्त्वका अद्भुत वर्णन।
१०. कृपामयी भगवद्गीता (गुजरातीमें भी)—गीताकी महिमा और उसकी विलक्षणताका वर्णन।
११. लक्ष्य अब दूर नहीं (गुजरातीमें भी)—परमात्मप्राप्तिके विविध सुगम साधनोंका अनूठा संकलन।
१२. सहज समाधि भली (गुजरातीमें भी)—'चुप साधन' का विस्तृत विवेचन।
१३. अपने प्रभुको पहचानें—भगवान्के समग्ररूपका विस्तृत विवेचन।
१४. एक सन्तकी अमूल्य शिक्षा (क्या करें, क्या न करें)
१५. विलक्षण सन्त, विलक्षण वाणी—प० श्रीस्वामीजी महाराजकी वसीयत-सहित।
१६. गोरक्षा—हमारा परम कर्तव्य
१७. क्या करें, क्या न करें?—आचार-व्यवहार संबंधी शास्त्र-वचनोंका अनूठा संग्रह।
१८. भवन-भास्कर (परिशिष्ट-सहित)—वास्तुशास्त्रकी महत्त्वपूर्ण बातें।
१९. सुखपूर्वक जीनेकी कला—सर्वोपयोगी प्रश्नोत्तर।
२०. क्या आप ईश्वरको मानते हैं?—साधकोंके लिये चेतावनी।
२१. बोलनेवाली श्रीमद्भगवद्गीता (अर्थसहित)—इसे पढ़नेके साथ-साथ शुद्ध उच्चारणमें सुन भी सकते हैं।
२२. ग्लोब गीता—आकर्षक ग्लोबके आकारमें सम्पूर्ण गीता।

गीता प्रकाशन,
कार्यालय—माया बाजार, पश्चिमी फाटक,
गोरखपुर—273001 (उ०प्र०)
फोन—09389593845; 07668312429
e-mail: radhagovind10@gmail.com